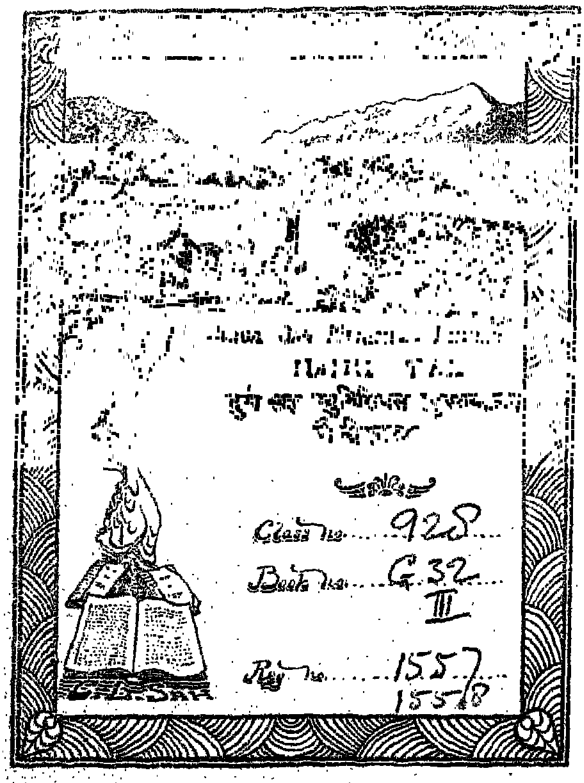
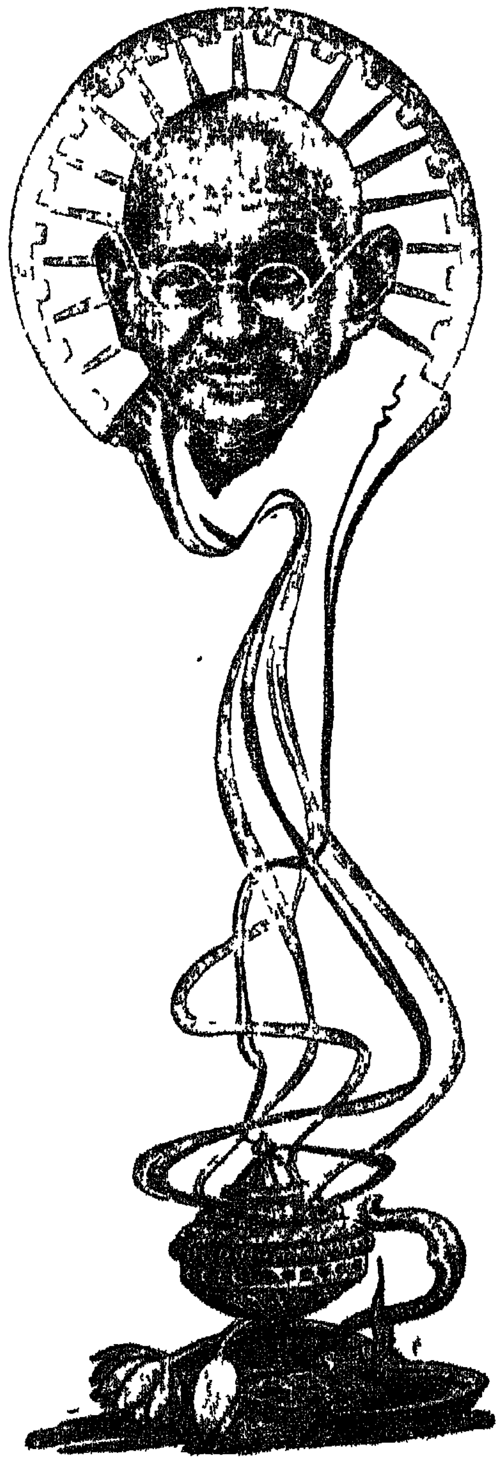

Class no. 928
Book no. G32 III
Reg no. 1557 1558

# गांधी जी



खण्ड दस

## अहिंसा

(प्रथम भाग)

मूल्य डेढ़ रुपया

( प्रथम संस्करण : गांधी-जयन्ती, २ अक्तूबर, १९४८ )

प्रकाशक
जयनाथ शर्मा
व्यवस्थापक
काशी विद्यापीठ प्रकाशन विभाग
बनारस छावनी

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव
अध्यक्ष
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट
काशी

# सूची

# चित्र-सूची



❀

# प्रकाशकका वक्तव्य

हमें हर्ष है कि बापूकी अमर जयन्तीके शुभ अवसरपर 'गांधीजी' ग्रंथमालाका यह तीसरा प्रकाशन 'अहिंसा' प्रकाशित हो रहा है। ग्रंथमालाका यह दसवाँ खण्ड है। अहिंसा खण्डके प्रायः तीन भाग होंगे। यह प्रथम भाग है।

इस भागके प्रकाशनकी अनुमति देकर श्री जीवनजी डाह्याभाई देसाई (व्यवस्थापक-ट्रस्टी, 'नवजीवन', अहमदाबाद) ने जो कृपा की है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

पाकिस्तान स्थित भारतीय हाई कमिश्नर माननीय श्री श्रीप्रकाश, मुखपृष्ठके चित्रके लिये; श्री कमलकुमार, दिल्ली तथा चेकोस्लावाक सोसाइटी, बाटानगर, कलकत्ता, अन्दरके पृष्ठोंके चित्रों के लिये; श्री रामनाथ अग्रवाल, लक्ष्मी फोटो एन-ग्रेविंग कम्पनी, इलाहाबाद ब्लाकोंके लिये तथा ईगल प्रिंटिंग वर्क्स, कलकत्ताके मुख पृष्ठके चित्रकी छपाईके लिए हम आभारी हैं।

काशी विद्यापीठके भूतपूर्व अध्यापक स्वर्गीय श्री कन्हैयालालजीकी संग्रह-वृत्तिने हमें अनमोल सहायता दी है। उनके संग्रहीत 'हिन्दी नवजीवन' तथा 'यंग-इंडिया'ने हमारा कार्यभार हल्का किया है। हम उनकी स्वर्गीय आत्माके प्रति कृतज्ञ हैं। बनारसके प्रसिद्ध कांग्रेस-कार्यकर्त्ता तथा गांधीभक्त श्रीरामसूरत मिश्रने भी अपने 'संग्रह'के उपयोगसे बड़ी सहायता दी है। हम उनके भी आभारी हैं।

इस भागका पूरा संकलन श्री लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'ने बड़े ही अध्यवसायसे किया है। यह अंक उनके ही परिश्रमका फल है। श्री विद्यारण्य शर्माने भी सम्पादनमें सहायता दी है। हम दोनों सज्जनोंके आभारी हैं।

ग्रंथमालाका जो अपूर्व स्वागत हो रहा है, उससे हमको जो बल तथा साहस मिल रहा है, उसके सहारे हमें आशा है कि इस अनुष्ठानमें हम सफल सिद्ध होंगे।

❀

( कृपया पृष्ठ ११६ पर लेखके अन्तमें १६४८ के स्थान पर १६२६ पढ़िये। )

# आमुख

भारतके लिए अहिंसा शब्द नया नहीं है। मैं तो यह भी कह सकता हूँ कि भारत ही नहीं समस्त संसारके लिए यह शब्द पूर्णतः परिचित है। जगतका कोई धर्म और समुदाय नहीं है जिसने अहिंसाकी महिमा न गायी हो, और प्राणिमात्रपर दया करना न सिखाया हो। भारतमें तो अहिंसाके आदर्शने अति आरंभिक कालसे अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त किया है। उपनिषदोंमें, स्मृतियोंमें और समय-समयपर इस देशमें प्रचलित विभिन्न प्रकारके सम्प्रदायोंमें सर्वत्र अहिंसाको प्रथम स्थान दिया गया है। भक्ति, योग और ज्ञानके जो त्रिविध मार्ग भारतीय विचारकोंकी विचार-पद्धतिसे संभूत हुए हैं, उनमें सर्वत्र साधकके लिए अहिंसाकी साधनाका प्रखर उपदेश मौजूद है। भारतका भागवत-धर्म, भगवान बुद्धके उपदेश, जैन-धर्म इत्यादिने तो अहिंसाकी कल्पना और आदर्शको परम तेजस्विता प्रदान की है। तबसे लेकर सन्तोंके युगतक इस देशकी धार्मिक और सांस्कृतिक विचार-शैली तथा विचार-धारामें अहिंसा सुदृढ़ रूपसे स्थित है। फलतः हमारे लिए विशेष रूपसे यह कहा जा सकता है कि अहिंसाकी कल्पना, उसका आदर्श और उसकी साधना कोई नयी बात नहीं है। इस देशके ऋषियों, विचारकों, महात्माओं और सन्तोंने अबाध रूपसे उसका उपदेश किया है।

फिर अहिंसाके संबंधमें यदि बापूने कुछ कहा तो उसमें विशेषता क्या है? वे भारतकी सहस्राब्दियोंकी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक शक्तिके उज्ज्वल प्रतीक ही तो थे। भारतने अपने लम्बे जीवनकी अवधिमें, आरम्भसे अबतक विकास और संस्कृतिके क्षेत्रमें जो कुछ अर्जन किया था उन सबका प्रतिनिधित्व करनेके लिए ही बापूका अवतार हुआ। वे भारतकी सांस्कृतिक श्रृंखलाकी आलोकमयी कड़ी थे। हम देखते हैं कि भारतकी संस्कृतिमें तथा युग-युगमें उसके द्वारा उपलब्ध उज्ज्वल अनुभूतियोंमें जो कुछ भी सत्य, जो भी सुन्दर और जो भी शिवमय था उन सबकी अभिव्यक्ति बापूके रूपमें हुई। फिर उनके द्वारा एक बार पुनः अहिंसा शब्दके उच्चारणमें और उनके द्वारा उस आदर्शके प्रतिष्ठापनमें कौनसी नयी विशेषता रही। यह प्रश्न बहुधा हमारे सम्मुख उपस्थित होता है और उसका उत्तर ढूँढ़नेमें ही बापू, उनकी कल्पना और उनके उपदेशकी विशेषता दृष्टिगोचर हो जाती है। गांधीजीकी अहिंसा केवल महात्माओंकी और विरागियोंकी अहिंसा नहीं है। उनकी अहिंसा विशुद्ध धर्मोपदेशमात्र नहीं है, जिसका उपदेश करके सन्त और महात्मा तृप्त हो जाया करते हैं। उनकी अहिंसा विशुद्ध अलभ्यादर्शके रूपमें जगतके सम्मुख उपस्थित नहीं हुई है। अपनी अहिंसाके द्वारा उन्होंने हमारे पर-

लोककी सिद्धि और स्वर्गकी प्राप्तिकी कल्पनामात्र नहीं की है। उनकी अहिंसा न निष्क्रिय है, न केवल अरूप उत्तम कल्पना। गांधीजीकी अहिंसाकी कल्पनामें केवल प्राणिमात्रके प्रति दया अथवा जीवहिंसा मात्र न करना ही समाविष्ट नहीं है। उनकी अहिंसा इन सबसे कहीं अधिक व्यापक, कहीं अधिक सजीव और कहीं अधिक सक्रिय है। बापूके अहिंसा संबंधी विचारोंका मन्थन कीजिये और आप इस परिणामपर पहुचेंगे कि उन्होंने अहिंसा शब्दका प्रयोग एक संकेतके रूपमें अथवा विचार-प्रतीकके रूपमें किया है।

गांधीजीकी सारी विचारधारा, उनकी सारी विचारशैली, उनकी सारी दृष्टि, उनका सारा दर्शन, उनका पथ, उनकी साधना और प्रयोग, सबका सब उनके अहिसा शब्दमें व्यक्त होता है। बापू कोरे दार्शनिक, विशुद्ध कल्पनाशील विचारक अथवा केवल रूखे सिद्धान्तवादी नहीं थे। वे कठोर कर्मठ, नैष्ठिक साधक और जीवन तथा जगतकी गतिविधिका साक्षातकार कर लेनेवाले अत्यन्त व्यवहारिक व्यक्ति थे। वे यदि आत्मामें, परमात्मामें, परलोकमें, अदृश्य और अमूर्तमें, चेतना और भावनामें आस्था रखनेवाले दार्शनिक थे तो उसके साथ-साथ इस जगतके स्थूल रूप, उसकी स्थूल आवश्यकताओं, उसके दृश्य-स्वरूप और उसकी व्यावहारिकताका सूक्ष्म तथा विस्तृत ज्ञान रखनेवाले युग पुरुष भी थे। उनके लिए परलोककी साधना आवश्यक रही होगी, पर उससे भी बड़ी आवश्यकता उनकी दृष्टिमें इहलोकके कल्याणमें थी। वह जिस जगतमें उत्पन्न हुए थे, वह जगत उनके सामने था, उसकी समस्यायें और गुत्थियां उनके सामने थीं, उसका गुण और विकार उनके सामने था, उसका वैषम्य और उसकी विफलता उनके सामने थी। उसकी कठिनाइयां और उसकी आवश्यकतायें भी उनके सामने थीं। उन्हें संसारकी समस्याओंको सुलझाने और उनका समाधान करनेके लिए पथ प्रस्तुत करना था। इस लक्ष्यको सामने रखकर उनका विचार-प्रवाह एक दिशाकी ओर बह चला और उसने एक पथ, प्रवाहकी एक दिशा, ग्रहण कर ली। अहिंसा शब्दके द्वारा उन्होंने अपनी वही दृष्टि, वही दर्शन और वही पथ जगतके सम्मुख रखा। गांधीजीने व्यक्ति और समूहके लिए, समाजके संघटन और सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन-व्यापारके लिए जिस भित्तिका प्रतिपादन किया वह उनकी अहिंसामें समाविष्ट है। वह अहिंसा केवल सन्तों और साधकोंके लिए नहीं है, प्रत्युत उसके द्वारा उन्होंने व्यक्ति और समाजके लिए एक आधार निर्मित किया जिसपर संसव्यूहन करना ही आधुनिक जगतकी समस्याओंके हलका उपाय था।

बापूकी दृष्टिमें मनुष्यकी प्रगति और विकासका एक निर्धारित पथ है। मानव जिस सीमातक पशुतासे, पशुभावोंसे, पशु-प्रवृत्तियोंसे ऊंचा उठता गया और जिस सीमातक अपने नैसर्गिक पाशवका निराकरण कर सका, उस सीमा-तक वह विकास-पथपर अग्रसर होता गया। मनुष्यमें लोभ है, हिंसा है, द्वेष है, अपनी प्रभुता स्थापित करनेकी भावना है, ममत्व है, अहमत्व है, अहंकी तृप्ति और उसकी पूजाकी कामना है। ये सजात प्रवृत्तियां हैं जो उसके

जीवनके साथ अनिवार्य रूपसे लगी हुई हैं। ये अतिभौतिक वृत्तियाँ मानव और पाशवके समान धर्म हैं। इन वृत्तियोंके शासनसे शासित जो प्राणी असहाय-रूपमें उनके इशारेपर जीवन यापन करता चला गया वह विकासकी यात्रामें पशु बिन्दुतक पहुंच कर ही रुक गया। पर मनुष्य मनुष्य हुआ क्योंकि प्रकृतिने उसमें वह शक्ति और वह क्षमता प्रदान की जिससे वह अपनी इन मूल-वृत्तियोंसे ऊंचा उठ सके, उनकी सीमा बांध सके और उनका संतुलन कर सके। विकासके इतिहासकी यह गति मानव-विकासके पथकी ओर स्पष्टतः संकेत करती है। विकासका पथ अनन्त है, अतः उसका अन्तिम बिन्दु क्या है यह बताना कठिन है, पर इतना तो स्पष्ट है कि मानव-जीवनकी सुषमा, गरिमा और सौन्दर्य इसीमें है कि वह अहमूत्व और ममत्वसे ऊँचा उठता चले। मनुष्यके समाजका रचण और स्फुरण इसी एक बातपर अवलम्बित है कि मनुष्य अपने अहंकी सीमाका संकोच करे। अपने अहंके विसर्जनपर ही हमारे परिवारका, हमारे समाजका और हमारे मानव-जगतका निर्माण होता है तथा हमारे व्यक्ति-गत जीवनके संबंध स्थिर होते हैं।

कहते हैं कि मनुष्य स्वभावतः व्यक्तिवादी और अहंवादी होता है। यदि यह सच हो तो भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि मनुष्य अपने अहमूत्व और व्यक्तित्वके संकोचन तथा विसर्जनके द्वारा ही अपने समाजकी रचना करनेमें समर्थ होता है। जिस दिन व्यक्ति प्रकट होता है, उस दिनसे ही समाजका अंग हो जाता है और उस दिनसे ही समाजके लिये अपने व्यक्तित्वकी सीमा संकुचित करने लगता है। यही व्यक्तित्वका संकोच और अहमत्वका अधिकाधिक विसर्जन उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनके विकासका पथ रहा है। जिस दिन मनुष्य प्रगतिके इस पथसे विमुख होता है, उस दिनसे उसका विकास रुक जाता है, उसकी संस्कृति कुंठित हो जाती है, उसके जगतमें आग लग जाती है और उसकी मनुष्यता लुप्त हो जाती है। समूहके लिए, विराटके लिए, अहंकी सत्ताको, उसकी सीमाओंको ढहाना छोड़ कर जिस दिन अहंकी पूजा ही लक्ष्य हो जाता है उसी दिन स्वार्थ प्रबल होता है, पीड़न आरम्भ होता है, संघर्षकी सृष्टि होती है, हिंसाका उद्रेक होता है, बल, शस्त्र और शक्तिके सहारे पशुताका साम्राज्य स्थापित होता है और मनुष्य पशु होकर मानवाधिकारोंका अपहरण करके मनुष्यताके राज्यको खो बैठता है। फिर वह स्थिति पतनकी ओर ले जाती है और मनुष्यता तथा उसकी संस्कृति खतरेमें पड़ जाती है। बापूने देखा कि आधुनिक विश्वकी समस्या यही है। मनुष्य सब कुछका अधिकारी होते हुए भी मनुष्यता खो बैठा है क्योंकि उसने पदे-पदे अहंका विसर्जन करते हुए व्यक्तित्वको विराटमें लय करने देनेके पथसे विरत होकर अहंकी ही पूजा आरंभ कर दी है। प्रकाशसे उसकी यह विमुखता उसे अंधकारमें ले गयी जहां पहुंचकर वह पथ-भ्रान्त हो गया। यही कारण है कि विश्व मनुष्यके पीड़नसे, मनुष्य द्वारा मनुष्यके दोहनसे, मनुष्यके शासन और

दलनसे विताड़ित है। यही कारण है कि धरित्रीका अभिषेक रक्तसे हो रहा है। मनुष्यता आर्तनाद कर रही है और संस्कृतिका लोप होता जा रहा है।

इस स्थितिसे संसारका परित्राण तभी हो सकता है जब मनुष्य अहंसे ऊँचा उठे। बापूकी अहिंसाकी कल्पनामें इसी कारण सीधी-सादी जीव-दया ही नहीं, प्रत्युत अहम्‌त्वके विसर्जनकी कल्पना निहित है। उनकी दृष्टिमें वह सब हिंसा है जिसका उन्मेष अहंके भावसे होता है। स्वार्थ, प्रभुताकी भावना, जातिगत विद्वेष, असन्तुलित और असंयमित भोग-तृप्ति, विशुद्ध भौतिकताकी पूजा, अपने व्यक्तिगत तथा वर्गगत स्वार्थोंका अंध साधन, शस्त्र और शक्तिके द्वारा अपनी कामनाओंकी संतृप्ति, स्वाधिकार बनाये रखनेके लिए बलका आश्रय तथा दूसरेके अधिकारोंका अपहरण आदि समस्त बातें हिंसा ही हैं। बापूकी दृष्टिमें हिंसा एक मनःस्थिति है जो विशेष प्रकारकी प्रवृत्तिमें व्यक्त होती है और जिसका व्यावहारिक तथा सजीव स्वरूप उपर्युक्त प्रकारके कार्योंमें मूर्त्त होता है। इसी प्रकार उनकी अहिंसा इन सबसे विपरीत मनःस्थिति, प्रवृत्ति, पथ और कार्यकी द्योतिका है। उनकी अहिंसा वह मनःस्थिति है जिसमें मनुष्यका उज्ज्वलांश उद्दीप्त हो, वह अहंकार, स्वार्थ, भौतिक भोगोंकी लोलुपतासे ऊँचे उठकर, अपने व्यक्तित्वका विसर्जन विराटके कल्याणमें कर देनेमें अपना विकास, अपनी प्रगति और अपना निश्रेयस देखे। वास्तवमें बापूके मुखसे निकला हुए अहिंसा शब्द इन्हीं विचारोंका प्रतीक है। वह जीवन और-जगतके प्रति इसी दृष्टिका प्रतिनिधित्व करता है। इस अहिंसाको वे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनकी मूलभित्ति बनाना चाहते हैं और इस प्रकार उस महान् विद्रोहको चरितार्थ करना चाहते हैं जिसके द्वारा आज की सांस्कृतिक और सामाजिक संघटनकी अट्टालिका मूलसे ही परिवर्त्तित हो जाय।

अहिंसाकी कल्पना इस सजीव रूपमें करके उनके ऐसा कर्मठ, कोरा दार्शनिक चुप होकर नहीं बैठ सकता था। अहिंसाकी स्थापना अहिंसक पथ और अहिंसक प्रयोगके द्वारा ही हो सकती है। यदि आदर्श व्यवहार नहीं हो सकता और यदि व्यवहार आदर्शका अनुगमन नहीं कर सकता तो दोनों निर्जीव और थोथे हैं, तथा उनका मूल्य कौड़ी बराबर भी नहीं है। बापूकी यही तेजस्विनी धारणा थी—जिसे लेकर उन्होंने अहिंसाकी अपनी कल्पनाओंको सक्रियता प्रदान कर दी। उन्होंने देखा कि जगतमें अबतक पशुताका पशुतासे, हिंसाका हिंसासे, शस्त्रका शस्त्रसे ही सामना किया गया है। फलतः निर्बल पशुतापर सबल पशुता ही विजयिनी हुई और बलहीन शस्त्रोंपर सबल शस्त्रोंकी सत्ता प्रतिष्ठित हुई। इस प्रकार स्पष्ट है कि दुर्बल हिंसा और दुर्बल पशुताका नाश करके प्रबल हिंसा और प्रबल पशुताकी प्रतिष्ठा की गयी। इससे लक्ष्यकी संसिद्धि कैसे संभव थी। वह तो तभी संभव हो सकती है, जब हिंसा अहिंसासे, पशुता मनुष्यतासे और भौतिक शक्ति आत्माकी प्रखरता और ओजसे पराभूत हो। बापूने आदर्शके अनुकूल ही व्यवहारकी सरणी निर्मित कर दी। पवित्र लक्ष्य के

लिए पवित्र साधन और पवित्र पथका निर्माण कर डाला। उनकी अहिंसा निर्जीव नहीं, सजीव रूपमें व्यक्त हुई। वह मूर्त हुई प्रबल हिंसाका सामने करनेके लिए प्रचण्ड शक्तिके रूपमें, ऐसी शक्ति जिसके सम्मुख जगतकी समस्त पशुता और शस्त्र-प्रहार कुण्ठितहोगया। ऐसी शक्ति, जो दंभियोंके दंभको चूर्ण कर सके, और अत्यन्त प्रचण्ड संघर्ष, महान् विद्रोह तथा व्यापक गतिशीलताका प्रजनन कर सके। अबतक मानव जगतके इतिहासके किसी युगमें अहिंसाकी ऐसी कल्पना करनेवाला कोई दूसरा व्यक्ति उत्पन्न ही नहीं हुआ। उनकी यह कल्पना ही विश्वके विशाल सांस्कृतिक तथा विचार-क्षेत्रको उनकी न केवल पहली किन्तु अभिनव देन है। इस अहिंसाको व्यवहारमें लाकर, प्रत्येक प्राणीके लिए उसे उपलब्ध कर, व्यक्ति और समाजके जीवनपथमें उसे प्रस्तुत कर तथा उसकी शक्ति और सक्रियताको प्रदर्शित कर उन्होंने वह कर दिखाया जो अबतक किसी ने नहीं किया।

यह समझना भयावनी भ्रान्ति होगी कि शस्त्र न उठानेको ही बापूने अहिंसाकी संज्ञा प्रदान की है। आप उनके विचारोंकी गूढ़तामें प्रवेश कीजिये तो यह देखियेगा कि उनकी अहिंसा इतनी संकुचित नहीं है। संकुचित ही नहीं प्रत्युत उनकी अहिंसाका रूप ही दूसरा है। उनकी दृष्टिमें अहिंसक कार्य भी हिंसक हो सकता है और हिंसक कार्य भी अहिंसाकी सीमामें आ सकता है। मूल प्रश्न है, उस मनःस्थितिका जिसे ग्रहण करके आप कार्य विशेष करते हैं। यदि ऐसा न होता तो बापू यह कदापि न कहते कि शस्त्रधारी शत्रुके सम्मुख पलायन करना वह कायरता है जिससे बड़ी हिंसा दूसरी हो नहीं सकती। उन्होंने साफ-साफ कहा था कि नाजियोंके विरुद्ध शस्त्र उठाकर पोलों द्वारा जो युद्ध हुआ वह अहिंसक प्रतिरोधके समान था। उनके इन विचारोंकी समीक्षा कीजिये। जो व्यक्ति निर्भय होकर और जीवनकी बलि चढ़ाकर बिना शस्त्र उठाये शस्त्रका मुकाबला करता है है वह अहंके मोहको छोड़कर सत्यके लिए अपनेको समर्पित कर देता है। उस व्यक्तिकी यह पद्धति विशुद्ध अहिंसक है। पर अपने प्राणके भयसे शस्त्रके सामने पलायन करनेवाला यद्यपि हिंसा नहीं करता पर वह बापूकी दृष्टिमें न केवल महान कायर है, प्रत्युत सबसे बड़ा हिंसक है, क्योंकि उसे अहंके प्रति मोह है और सत्यकी उपेक्षा करके अपने अकिंचन प्राणोंको बचानेकी चाह है। उन्होंने बार-बार कहा है कि कायरताकी अपेक्षा शस्त्र उठाकर शत्रुका सामना करना कहीं अधिक श्रेयस्कर और अहिंसक है। यदि कोई व्यक्ति किसीकी सम्पत्ति हड़प कर जानेकी इच्छा लेकर उसके दरवाजेपर अनशन आरंभ कर दे तो क्या वह अहिंसक हो जायगा ? स्पष्ट है कि बापूकी दृष्टिमें, अहिंसक-साधन ग्रहण करके भी इस प्रकारका कार्य करनेवाला सबसे बड़ा हिंसक होगा। इसी प्रकार शस्त्र लेकर किसी रोगीके विषाक्त व्रणको चीरकर रक्त बहानेवाला और रोगीको पीड़ासे छटपटानेके लिए बाध्य करनेवाला डाक्टर हिंसक नहीं हो सकता यद्यपि उसका कार्य हिंसात्मक ही है। यही दृष्टि थी और यही था मानदण्ड जो बापूको ग्राह्य था, जिसका प्रमाण अहमदाबादमें पागल कुत्तेके मारने और पीड़ासे कराहते हुए बछड़ेको सूईके द्वारा दवा देकर इस जीवनसे छुटकारा दिलानेमें व्यक्त होता है।

अहिंसाकी यह ओजस्विनी, यह तेज-पूरित और यह सबल कल्पना जिस ऋषिने जगतके सामने उपस्थितकी उसने वास्तवमें मानव समाजके सांस्कृतिक पथको प्रशस्त कर दिया। उसका स्वर भिन्न था, उसकी दृष्टि भिन्न थी, उसका पथ भिन्न था, उसका प्रयोग भिन्न था। आधुनिक जगतकी समस्त विचार-पद्धतियोंसे भिन्न उसने संसारकी गुत्थियोंको एकदूसरे ही कोणसे देखा और उनके हलका उपाय अभिनव ढंगसे प्रस्तुत किया। आज जगतकी सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि मनुष्य अपनी खोयी हुई मनुष्यता प्राप्त करे। मानव समाज अपेक्षा कर रहा है अपने उज्ज्वलांशके उद्बोधनका जिसकी सुषुप्ति और मूर्छासे धरित्री विनाशकी ओर उन्मुख हो गयी है। बापूने अहिंसा शब्दके द्वारा वही प्रदान किया जिसकी अपेक्षा आजका युग कर रहा है।

वे मानव-समाजके दुर्भाग्यसे और हमारे पापोंके फलस्वरूप हमारे बीच नहीं रहे। पर उनका जीवन और उनके विचार उस दिशाकी ओर संकेत कर गये हैं, जिधर जानेमें ही जगतका कल्याण है। प्रस्तुस्त पुस्तकमें उनके इन्हीं विचारोंका सकलन किया गया है। उनकी अहिंसाके संबंधमें जितनी निर्मूल धारणायें और भ्रान्त विचार अज्ञ लोगोंमें ही नहीं प्रत्युत विचारकों और पण्डितोंमें भी पाये जाते हैं, उनका निराकरण आज आवश्यक है। बापूके जिन लेखों और विचारोंका यहां संकलन किया गया है उन्हें देखनेपर पाठकोंको स्वयं यह आभास मिल जायगा कि उन्होंने स्वतः तरह-तरहके सन्देह और भ्रान्त-विचारोंको दूर करनेका प्रयत्न किया है। यह भारतका सौभाग्य था कि बापूके द्वारा उसने न केवल अपनी खोयी हुई स्वतंत्रता ही प्राप्त की प्रत्युत अतीतके विलुप्त ऐश्वर्यको भी उपलब्ध किया। भारतका ऐश्वर्य उसकी भौतिक संपदामें निहित न था। धरित्रीमें उसका सम्मान उसके उस सांस्कृतिक अभिनयके कारण था जिसके द्वारा उसने समय-समयपर मानवताको प्रगति और देवत्वका संदेश दिया था। संसारको पुनः उसी भारतने बापूके द्वारा एक बार वैसा ही दिव्य संदेश दिया है। अब यह उत्तरदायित्व है इस देशके निवासियों पर कि वे उस सन्देशकी पवित्रता, गुरुता और सुन्दरतापर चलें तथा अपनी परम्पराके अनुसार कराहती हुई दुनियांको जीवन-मार्ग दिखावें।

—सम्पादक मण्डल

*



राष्ट्रपिता



कर्मवीर गांधी

## लड़ाईमें भाग

विलायतमें पहुँचनेपर खबर मिली कि गोखले तो पेरिसमें रह गये हैं। पेरिसके साथ आवागमन संबंध बंद हो गया है और यह नहीं कहा जा सकता कि वह कब आयेंगे। गोखले अपने स्वास्थ्य-सुधारके लिए फ्रांस गये थे, किन्तु बीचमें युद्ध छिड़ जानेसे वहीं अटक रहे। उनसे मिले बिना मुझे देश जाना नहीं था, और वह कब आयेंगे, यह कोई कह नहीं सकता था।

अब सवाल यह खड़ा हुआ कि इस दरमियान करें क्या? इस लड़ाईके संबंधमें मेरा धर्म क्या? जेलके साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजणिया विलायतमें बैरिस्टरीका अध्ययन कर रहे थे। सोराबजीको एक श्रेष्ठ सत्याग्रहीके तौरपर इंगलैंडमें बैरिस्टरीकी तालीमके लिए भेजा था जिससे वे दक्षिण अफ्रीकामें आकर मेरा स्थान ले लें। उनका खर्च डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता देते थे। उनके और उनके मार्फत डाक्टर जीवराज मेहता इत्यादिके साथ, वह विलायतमें पढ़ रहे थे, इस विषयपर सलाह-मशविरा किया। विलायतमें उस समय जो हिन्दुस्तानी लोग रहते थे उनकी एक सभा की गयी और उसमें मैंने अपने विचार उपस्थित किये। मेरा यह मत हुआ कि विलायतमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंको इस लड़ाईमें अपना हिस्सा देना चाहिये। अंग्रेज विद्यार्थी लड़ाईमें सेवा करनेका अपना निश्चय प्रकाशित कर चुके हैं। हम हिन्दुस्तानियोंको भी इससे कम सहयोग न देना चाहिये। मेरी इस बातके विरोधमें इस सभामें बहुतेरी दलीलें पेश की गयीं। कहा गया कि हमारी और अंग्रेजोंकी परिस्थितिमें हाथी-घोड़े जितना अंतर है—एक गुलाम दूसरा सरदार। ऐसी स्थितिमें गुलाम अपने प्रभुकी विपत्तिमें उसे स्वेच्छापूर्वक कैसे मदद कर सकता है? फिर जो गुलाम अपनी गुलामीमेंसे छूटना चाहता है उसका धर्म क्या यह नहीं कि प्रभुकी विपत्तिसे लाभ उठाकर अपना छुटकारा कर लेनेकी कोशिश करे? पर यह दलील मुझे उस समय कैसे पट सकती थी? यद्यपि मैं दोनोंकी स्थितिका महान अन्तर समझ सका था, फिर भी मुझे हमारी स्थिति बिलकुल गुलामीकी स्थिति नहीं मालूम होती थी। उस समय मैं यह समझे हुए था कि अंग्रेजी शासन-पद्धतिकी अपेक्षा कितने ही अंग्रेज अधिकारियोंका दोष अधिक था और उस दोषको हम प्रेमसे दूर कर सकते हैं। मेरा यह खयाल था कि यदि अंग्रेजों द्वारा और उनकी सहायतासे हम अपनी स्थितिका सुधार चाहते हों तो हमें उनकी विपत्तिके समय सहायता पहुँचाकर अपनी स्थिति सुधारनी चाहिये। ब्रिटिश-शासन-पद्धतिको मैं दोषमय तो मानता था, परन्तु आजकी तरह वह उस समय असह्य नहीं मालूम होती थी। अतएव आज जिस प्रकार वर्तमान शासन-पद्धतिपरसे मेरा विश्वास उठ गया है और आज मैं अंग्रेजी राज्यकी सहायता नहीं कर सकता, उसी तरह

उस समय जिन लोगोंका विश्वास इस पद्धतिपरसे ही नहीं, बल्कि अंग्रेज अधिकारियोंपरसे भी उठ चुका था, वे मदद करनेके लिए तैयार कैसे हो सकते थे?

उन्होंने इस समयको प्रजाकी माँगें जोरके साथ पेश करने और शासनमें सुधार करानेकी आवाज उठानेके लिए बहुत अनुकूल पाया। किन्तु मैंने इसे अंग्रेजोंकी आपत्तिका समय समझकर माँगें पेश करना उचित न समझा और जबतक लड़ाई चल रही है तबतक हक माँगना मुल्तवी रखनेके संयममें सभ्यता और दीर्घदृष्टि समझी। इसलिए मैं अपनी सलाहपर मजबूत बना रहा और कहा कि जिन्हें स्वयंसेवकोंमें नाम लिखाना हो वे लिखा दें। नाम अच्छी संख्यामें आये। उनमें लगभग सब प्रांतों और सब धर्मोंके लोगोंके नाम थे।

फिर लार्ड क्रूके नाम एक पत्र भेजा गया। उसमें हम लोगोंने अपनी यह इच्छा और तैयारी प्रकट की कि हिन्दुस्तानियोंके लिए घायल सिपाहियोंकी सेवा-सुश्रूषा करनेकी तालीमकी, यदि आवश्यकता दिखायी दे तो, हम उसके लिए तैयार हैं। कुछ सलाह-मशविरा करनेके बाद लार्ड क्रूने हम लोगोंका प्रस्ताव स्वीकार किया और इस बातके लिए हम लोगोंका अहसान माना कि हमने ऐसे ऐन मौकेपर साम्राज्यकी सहायता करनेकी तैयारी दिखायी।

जिन-जिन लोगोंने अपने नाम लिखवाये थे उन्होंने प्रसिद्ध डाक्टर केंटलीकी देखरेखमें घायलोंकी सुश्रूषा करनेकी प्राथमिक तालीम लेना शुरू किया। छः सप्ताहका छोटा सा शिक्षा-क्रम रखा गया था और इतने समयमें घायलोंकी प्राथमिक सहायता करनेकी सब विधियाँ सिखा दी जाती थीं। हम कोई ८० स्वयंसेवक इस शिक्षा-क्रममें सम्मिलित हुए। छः सप्ताहके बाद परीक्षा ली गयी तो उसमें सिर्फ एक ही शख्स फेल हुआ। जो लोग पास हो गये उनके लिए सरकारकी ओरसे कवायद वगैरह सिखानेका प्रबंध हुआ। कवायद सिखलानेका भार कर्नल बेकरको सौंपा गया और वह इस टुकड़ीके मुखिया बन गये।

इस समय विलायतका दृश्य देखने लायक था। युद्धसे लोग घबराते नहीं थे, बल्कि सब उसमें यथाशक्ति मदद करनेके लिए जुट पड़े। जिनका शरीर हट्टा-कट्टा था वे नवयुवक सैनिक-शिक्षा ग्रहण करने लगे। परन्तु अशक्त बूढ़े और स्त्री आदि भी खाली हाथ न बैठे रहे। उनके लिए भी वे चाहें तो काम था ही। वे युद्धमें घायल सैनिकोंके लिए कपड़ा इत्यादि सीने-काटनेका काम करने लगे। वहाँ स्त्रियोंका 'लाइसियम' नामक एक क्लब है। उसके सभ्योंने सैनिक-विभागके लिए आवश्यक कपड़े यथाशक्ति बनानेका जिम्मा ले लिया। सरोजिनी देवी भी इसकी सभ्य थीं। उन्होंने इसमें खूब दिलचस्पी ली थी। उनके साथ मेरा वह प्रथम ही परिचय था। उन्होंने कपड़े ब्योंत व काटकर मेरे सामने उनका एक ढेर रख दिया और कहा कि जितना सिला सको, उतने सिलाकर मुझे दे देना। मैंने उनकी इच्छाका स्वागत करते हुए घायलोंकी सुश्रूषाकी उस तालीमके दिनोंमें, जितने कपड़े तैयार हो सके, उतने करके दे दिये।

आत्मकथा
भाग ४

# धर्मकी समस्या

युद्धमें काम करनेके लिए हम कुछ लोगोंने सभा करके जो अपने नाम सरकारको भेजे, इसकी खबर दक्षिण अफ्रीका पहुँचते ही वहाँसे दो तार मेरे नाम आये। उसमेंसे एक पोलकका था। उन्होंने पूछा था—"आपका यह कार्य अहिंसा-सिद्धांतके खिलाफ तो नहीं है?"

मैं ऐसे तारकी आशंका कर ही रहा था; क्योंकि 'हिंद-स्वराज्य' में मैंने इस विषयकी चर्चा की थी और दक्षिण-अफ्रीकामें तो मित्रोंके साथ उसकी चर्चा निरंतर हुआ ही करती थी। हम सब इस बातको मानते थे कि युद्ध अनीति-मय है। ऐसी हालतमें और जब मैं अपनेपर हमला करनेवालेपर भी मुकदमा चलानेके लिए नहीं तैयार हुआ था तो फिर जहाँ दो राज्योंमें युद्ध चल रहा हो और जिसके भले या बुरे होनेका मुझे पता न हो, उसमें मैं सहायता कैसे कर सकता हूँ, यह प्रश्न था। हालाँ कि मित्र लोग यह जानते थे कि मैंने बोअर-संग्राममें योग दिया था तो भी उन्होंने यह मान लिया था कि उसके बाद मेरे विचारोंमें परिवर्त्तन हो गया होगा।

और बात दरअसल यह थी कि जिस विचार-सरणिके अनुसार मैं बोअर-युद्धमें सम्मिलित हुआ था, उसीका अनुसरण इस समय भी किया गया था। मैं ठीक-ठीक देख रहा था कि युद्धमें शरीक होना अहिंसाके सिद्धांतके अनुकूल नहीं है, परंतु बात यह है कि कर्त्तव्यका भान मनुष्यको हमेशा दिनकी तरह स्पष्ट नहीं दिखायी देता। सत्यके पुजारीको बहुत बार इस तरह गोते खाने पड़ते हैं।

अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं, जो हिंसाकी होलीमें फँसे हुए हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य एक क्षण भी बाह्य हिंसा किये बिना नहीं जी सकता। खाते-पीते, बैठते-उठते, तमाम क्रियाओंमें इच्छासे या अनिच्छासे कुछ-न-कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। यदि इस हिंसासे छूट जानेके वह महान प्रयास करता हो, उसकी भावनामें केवल अनुकंपा हो, वह सूक्ष्म वस्तुका भी नाश न चाहता हो, और उसे बचानेका यथाशक्ति प्रयास करता हो, तो समझना चाहिये कि वह अहिंसाका पुजारी है। उसकी प्रवृत्तिमें निरंतर संयमकी वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरंतर बढ़ती रहेगी। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि कोई भी देहधारी बाह्य-हिंसासे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

फिर अहिंसाके पेटमें ही अद्वैत भावनाका भी समावेश है। और यदि प्राणि-मात्रमें भेद-भाव हो तो एकके पापका असर दूसरेपर होता है और इस कारण भी मनुष्य हिंसासे सोलहो आना अछूता नहीं रह सकता। जो मनुष्य समाजमें रहता है वह, अनिच्छासे ही क्यों न हो, मनुष्य-समाजकी हिंसाका जिम्मेदार बनता है। ऐसी दशामें जब दो राष्ट्रोंमें युद्ध हो तो अहिंसाके अनुयायी व्यक्तिका यह धर्म है कि वह उस युद्धको रुकवावे। परंतु जो इस धर्मका पालन

न कर सके, जिसे विरोध करनेका सामर्थ्य न हो, जिसे विरोध करनेका अधिकार न प्राप्त हुआ हो, वह युद्ध-कार्यमें शामिल हो सकता है और ऐसा करते हुए भी उसमेंसे अपनेको, अपने देशको और संसारको निकालनेकी हार्दिक कोशिश करता है।

मैं चाहता था कि अँग्रेजी राज्यके द्वारा अपनी. अर्थात् अपने राष्ट्रकी स्थितिका सुधार करूँ। पर मैं तो इंग्लैंडमें बैठा हुआ इंगलैंडकी नौ-सेनासे सुरक्षित था। उस बातका लाभ इस तरह उठाकर मैं उसकी हिंसकतामें सीधे-सीधे भागी हो रहा था। इसलिए मुझे यदि इस राज्यके साथ किसी तरह संबंध रखना हो, इस साम्राज्यके झंडेके नीचे रहना हो, तो या तो मुझे युद्धका खुल्लम-खुल्ला विरोध करके जबतक उस राज्यकी युद्ध-नीति न बदल जाय तबतक सत्याग्रह-शास्त्रके अनुसार उसका बहिष्कार करना चाहिये, अथवा भंग करने योग्य कानूनोंका सविनय-भंग करके जेलका रास्ता लेना चाहिये, या उसके युद्ध-कार्यमें शरीक होकर उसका मुकाबला करनेका सामर्थ्य और अधिकार प्राप्त करना चाहिये। विरोधकी शक्ति मेरे अंदर थी नहीं, इसलिए मैंने सोचा कि युद्धमें शरीक होनेका एक ही रास्ता मेरे लिए खुला था।

जो मनुष्य बंदूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनोंमें अहिंसाकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं दिखायी पड़ता। जो आदमी डाकुओंकी टोलीमें उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करनेका काम करता है, वह उस डकैतीके लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टिसे जो मनुष्य युद्धमें घायलोंकी सेवा करता है, वह युद्धके दोषोंसे मुक्त नहीं रह सकता। पोलकका तार आनेके पहले ही मेरे मनमें ये सब विचार उठ चुके थे। उनका तार आते ही मैंने कुछ मित्रोंसे इसकी चर्चा की। मैंने अपना धर्म समझकर युद्धमें योग दिया और आज भी मैं विचार करता हूँ तो इस विचार-सरणिमें मुझे दोष नहीं दिखाई पड़ता। ब्रिटिश-साम्राज्यके संबंधमें उस समय जो विचार मेरे थे उनके अनुसार ही मैं युद्धमें शरीक हुआ और इसलिए मुझे उसका कुछ भी पश्चात्ताप नहीं है।

मैं जानता हूँ कि अपने इन विचारोंका औचित्य मैं अपने समस्त मित्रोंके सामने उस समय भी सिद्ध नहीं कर सका था। यह प्रश्न सूक्ष्म है। इसमें मत-भेदके लिए गुंजाइश है। इसीलिए अहिंसा-धर्मको माननेवाले और सूक्ष्म रीतिसे उसका पालन करनेवालोंके सामने जितनी हो सकती है, खोलकर मैंने अपनी राय पेश की है। सत्यका आग्रही व्यक्ति रूढ़िका अनुसरण करके ही हमेशा काय नहीं करता, न वह अपने विचारोंपर हठ-पूर्वक आरूढ़ रहता है। वह हमेशा उसमें दोष होनेकी संभावना मानता है और उस दोषका ज्ञान हो जानेपर हर तरहकी जोखिम उठाकर भी उसको मंजूर करता है और उसका प्रायश्चित्त भी करता है।

आत्मकथा
भाग ४

# अहिंसा

जब कोई मनुष्य कहता है कि मैं अहिंसा-परायण हूँ तब उससे यह आशा की जाती है कि जब उसे कोई हानि पहुँचायेगा तो वह उसपर क्रोध न करेगा, वह उसका नुकसान न चाहेगा बल्कि उसकी भलाई ही चाहेगा। वह न तो उसे गाली-गलौज देगा और न उसके बदनको किसी तरहकी चोट ही पहुँचायेगा। वह तो अन्यायकर्ताके द्वारा किये गये हर तरहके नुकसान सहन ही करेगा। इस तरह अहिंसा मानों पूर्ण निर्दोषिता ही है और पूर्ण अहिंसाका अर्थ है प्राणिमात्रके प्रति दुर्भावका अभाव। वह तो मनुष्यके नीची श्रेणीके जीवों, यहाँतक कि विषैले सर्पों और हिंस्र पशुओंको गले लगाता है। उनकी सृष्टि इसलिए नहीं हुई है कि उनके द्वारा हमारी विनाशक प्रवृत्तियोंका पोषण हुआ करे। यदि हम सिर्फ उस जगत्कर्ताके हेतुको ही जान लें तो हमें इस बातका पता लग जाना चाहिये कि उसकी सृष्टिमें उन जीवोंका कौन-सा उचित स्थान है। अतएव अहिंसाका क्रियात्मक रूप क्या है? प्राणिमात्रके प्रति सद्भाव। यही शुद्ध प्रेम है। क्या हिन्दू शास्त्रों, क्या बाइबिल और क्या क़ुरान, सब जगह मुझे तो यही दिखाई देता है।

अहिंसा एक पूर्ण स्थिति है। सारी मनुष्य जाति इसी एक लक्ष्यकी ओर, संभवतः, परन्तु अनजानमें जा रही है। मनुष्य जब अपनी तई साक्षात् निर्दोषिताकी मूर्त्ति बन जाता है तब वह दैवी पुरुष नहीं हो जाता। वह तो कुछ अंशोंमें मनुष्य और कुछ अंशोंमें पशु है। हम घूँसेके बदले घूँसा जमाते हैं और हमारे क्रोधका पारा भी उतना ही चढ़ जाता है और इसे हम कहते हैं कि हमने मनुष्य जातिके उद्देश्यकी पूर्ति की है, अपने कर्त्तव्यका पालन किया है। यह तो अज्ञान नहीं अहंकार है। हम देखते हैं कि प्रतिहिंसा तो मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हम तो उसके कायल हैं। परन्तु इसके विपरीत धर्मशास्त्रोंमें तो हम देखते हैं कि प्रतिहिंसा कहीं भी आवश्यक कर्त्तव्य नहीं मानी गयी है, बल्कि सिर्फ वह जायज बतायी गयी है। आवश्यक कर्त्तव्य तो है संयम। प्रतिहिंसाके लिए तो बहुतसे नियमों और शर्तोंके पालन करनेकी जरूरत है। संयम तो हमारे जीवनका नियम ही है, क्योंकि बिना पूर्ण संयमके मनुष्य पूरी पूर्णावस्थाको पहुँच ही नहीं सकता। इस प्रकार कष्ट-सहन मनुष्य जातिका विशेष लक्षण है।

ध्येय तो हमेशा आगे ही आगे बढ़ता जाता है। ज्यों-ज्यों अधिक प्रगति होती जाती है त्यों-त्यों मनुष्य अपनेको अधिकाधिक अयोग्य मानता है। सन्तोष तो प्रयत्नमें है, अभीष्ट सिद्धिमें नहीं। पूर्ण प्रयत्न ही पूर्ण विजय है। अतएव यद्यपि मैं पहलेसे अधिक अच्छी तरह इस बातको जानता हूँ कि मैं अपने ध्येयसे कितना

दूर हूँ तथापि मेरे लिए पूर्ण प्रेमका नियम ही अपने जीवनका नियम है। जब-जब मुझे असफलता प्राप्त होगी तभी, मैं अधिक निश्चयके साथ प्रयत्न करूँगा।

लेकिन मैं इस अन्तिम सिद्धान्तकी बात तो महासभा और खिलाफत कमेटी द्वारा कर ही नहीं रहा हूँ। मैं अपनी त्रुटियोंको अच्छी तरह जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि ऐसा उद्योग असफल हुए बिना नहीं रह सकता। सारे मनुष्य-समाजसे यह आशा करना कि वे सब एकबारगी इस सिद्धान्तके अनुसार चलने लगेंगे, इस बातको न जानना है कि मनुष्य-समाजका काम किस प्रकार चलता है। लेकिन हाँ, महासभाके मंचसे तो मैं उस सिद्धान्तका प्रचार अवश्य करता हूँ। महासभा तथा खिलाफत-समितिने तो उस सिद्धान्तके तात्पर्यका एक भाग-मात्र स्वीकार किया है। यदि कार्यकर्त्ता लोग योग दें तो थोड़े ही समयमें यह बात जानी जा सकती है कि विशाल जनसमूहका थोड़े परिमाणमें किस तरह प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन थोड़े ही परिमाणमें तभी यथार्थ हो सकता है जब कि पूरे सिद्धान्तकी कसौटीपर चढ़ चुके।

एक बूँद पानीमें वे सब गुणधर्म होने चाहिये जो एक तालाब भर पानीमें हैं। अपने भाईके साथ मैं जिस अहिंसाका व्यवहार करूँगा वह सारे विश्वके प्रति मेरी अहिंसासे भिन्न नहीं हो सकती। जब मैं अपने भ्रातृ-प्रेमको सारे विश्वमें व्यापक करूँ तो उस अवस्थामें भी वह सत्य ही सिद्ध होना चाहिये।

जब किसी नियमका व्यवहार देश और कालकी मर्यादासे बाँध दिया जाय तब उसे व्यवहार-नियम या व्यवहार-धर्म कहते हैं। अतएव उससे उस व्यवहार-नियमका पालन करना ही इस सिद्धान्तका पूर्ण रूपसे पालन करना है। लेकिन हम प्रामाणिकताका व्यवहार चाहे व्यवहार-धर्म समझ कर करें चाहे सिद्धान्त समझकर करें, जबतक वह हमारा व्यवहार-नियम है, एक ही बात है। ईमानदारीको व्यवहार-नियमके तौरपर माननेवाला दूकानदार भी वैसा और उतना गज कपड़ा देगा जितना कि ईमानदारी-धर्म समझनेवाला दूकानदार देगा। दोनोंमें फर्क केवल इतना ही है कि राजनीतिक दूकानदार अपनी दूकानदारीको उस समय छोड़ देगा जब उससे इसमें लाभ न दिखाई देगा और इससे श्रद्धा रखनेवाला दूकानदार अपना सर्वस्व गँवा देनेपर भी उससे मुँह न मोड़ेगा। पर असहयोगियोंकी राजनीतिक अहिंसा बहुलांशमें इस कसौटीपर सही नहीं निकलती। इसीसे इस शुद्धिकी उम्र बढ़ती जा रही है। अंग्रेजोंका यह स्वभाव है कि वे झुकते नहीं। इसपर उन्हें कोसनेकी आवश्यकता नहीं। हमारे प्रेमकी आगसे उनके 'कठोरसे कठोर बाहुदण्ड' पिघले बिना नहीं रह सकते। मैं इस बातको जानता हूँ। अतएव अपनी इस स्थितिसे हट नहीं सकता। यदि अंग्रेजोंकी अथवा दूसरोंकी तबीयतपर इसका यथेष्ट असर नहीं होता है तो इसका अर्थ यही है कि या तो वह आग ही हमारे अन्दर नहीं है या उस तेजीके साथ धधक नहीं रही है।

अच्छा, हमारी अहिंसा चाहे बलवान अहिंसा न हो, पर सच्चे लोगोंकी

अहिंसा जरूर होनी चाहिये। यदि हम अहिंसा-परायण होनेका दावा करते हैं तो जबतक ऐसा दावा करें तबतक अंग्रेज अथवा सहयोगी भाइयोंको हानि पहुँचानेका इरादातक हमें न करना चाहिये। परन्तु हमारे तो अधिकांश लोगोंने उसका नुकसान जरूर चाहा है और हम ऐसा करनेसे इसलिए रुक रहे हैं कि हम कमजोर हैं या इस गलत खयालसे कि केवल शारीरिक हानि न पहुँचानेसे ही हमारे अहिंसा-व्रतका पालन हो जाता है। हमारी अहिंसाकी प्रतिज्ञामें तो भविष्यमें प्रतिहिंसा करनेकी सम्भावना रही नहीं जाती। दुर्भाग्यवश हमारे कुछ लोगोंने तो बदला चुकानेकी तिथि सिर्फ आगे बढ़ा भर दी है।

हाँ, कहीं मेरे आशयका गलत अर्थ न लगा बैठियेगा। मैं यह नहीं कहता कि व्यवहार-नियमके तौरपर अहिंसाको माननेमें इस नीतिका त्याग कर चुकनेपर भी प्रतिहिंसाकी संभावना नहीं रह जाती। पर हाँ, यदि संग्राममें हमारी विजय हुई तो इसमें हमें आगे संभावना अवश्य ही नहीं है। इसलिए जबतक हम अहिंसाको व्यवहार-नियमके तौरपर मानते हैं तबतक हम असली तौरपर अपने अंग्रेज हाकिमों तथा सहयोगियोंके साथ मित्रताका व्यवहार करनेपर बाध्य हैं। जब मैंने यह सुना कि भारतके कुछ स्थानोंमें अंग्रेजों अथवा प्रख्यात सहयोगियोंका जानोमाल महफूज नहीं है, उनके लिए घूमना-फिरना भी मुश्किल हो रहा है तो मुझे बड़ी शर्म मालूम हुई। उस दिन मद्रासकी सभामें जो लज्जाजनक दृश्य दिखाई दिया वह अहिंसाके पूर्ण अभावका सूचक था। जिन लोगोंने यह समझकर कि उस सभाके सभापतिने मेरा अपमान किया, उनकी छीछालेदर की उन्होंने न केवल खुद अपनेको ही बल्कि जातिको भी नीचा दिखाया। उन्होंने अपने मित्र और सहायक श्री एण्डरूजके हृदयको चोट पहुँचायी। यदि उन सभापति महाशयका यह मत था कि मैं एक दुरात्मा हूँ तो उनका ऐसा कहना बहुत ठीक ही था। अज्ञान उत्तेजना नहीं है। असहयोगी तो गहरीसे गहरी उत्तेजनाको भी सहन करनेकी प्रतिज्ञासे बँधे हुए हैं। यदि मैं किसी दुरात्माकी तरह काम करूँगा तो उत्तेजना तो अवश्य होगी, पर यदि कोई असहयोगी यह मानता हो कि मैं उसे गलत रास्तेपर ले जा रहा हूँ तो वह इस प्रतिज्ञासे मुक्त हो सकता है और मेरे प्राणतक ले सकता है।

हाँ, यह भी हो सकता है कि जीवनको इतने मर्यादित रूपमें अहिंसामय बनाना भी अधिकांश रूपमें असंभव हो। यह भी हो सकता है कि हम लोगोंसे महज उनके स्वार्थके ख्यालसे भी यह आशा न करें कि जहाँ अपने प्रतिपक्षीको हानि नहीं पहुँचा रहे हैं वहाँ हानि पहुँचानेका इरादा तक न करें। तब हमें उचित है कि हम अपने इस युद्धके सम्बन्धमें अहिंसा शब्दका उच्चारण तक न करें, तभी हम प्रामाणिक बने रह सकते हैं। इसका उपाय यह नहीं है कि तुरंत ही हिंसाकाण्ड मचा बैठें। पर इस अवस्थामें लोगोंसे अहिंसा सम्बन्धी नियमोंके पालनकी बात कोई न कहेगा। तब मुझ जैसे मनुष्यको यह मालूम होगा कि चौरीचौराकी जिम्मेदारी मेरे सिरपर है। इस मर्यादित अहिंसाका सम्प्रदाय तो

उस एकान्त अवस्थामें भी फलता-फूलता ही रहेगा और भला यह होगा कि उसके सिरसे जवाबदेहीका वह भीषण भार उठ जाय जिसे वह आज वहन कर रहा है।

परन्तु यदि अहिंसा ही इस राष्ट्रका व्यवहार-धर्म निश्चित रहा तो हम उसका अक्षरशः तथा ठीक पालन करनेके लिए बाध्य हैं। तभी उसका तथा मनुष्य जातिका शुभ नाम कायम रह सकता है।

और यदि इस व्यवहार-नियमके अनुसार चलनेका इरादा हम करते हों, यदि हम उसके कायल हों तो हमें तुरंत ही अंग्रेज सहयोगी भाइयोंसे मेल-मिलाप कर लेना चाहिये। हमें इस बातमें कि वे लोग हमारे बीचमें अपने जान-मालको पूरा-पूरा सुरक्षित समझते हैं और उनके हमारे बीच तथा राजनीतिमें जमीन-आसमानका फर्क होत हुए भी वे हमें अपना मित्र समझते हैं, खुद उन्हींका प्रमाणपत्र हासिल करना चाहिये। हमें अपने मान्यवर अतिथिके तौरपर अपनी राजनीतिक सभाओंमें उनका स्वागत करना चाहिये। जिन सभाओंका संबंध किसी दल या मतसे न हो उनमें हम, वे साथ-साथ काम करें। हमें ऐसी सभाओंकी आयोजना तभी करनी चाहिये। हमारी अहिंसाका फल द्वेष और दुर्भाव न होना चाहिये। दूसरे मर्त्य मनुष्योंकी तरह हमारी पहचान भी अपने कार्योंसे ही होगी। स्वराज्य-प्राप्तिके लिए अहिंसात्मक कार्यक्रम बनानेका मतलब है अहिंसात्मक रीतिसे चलानेकी योग्यता। इसका अर्थ है आज्ञा-पालनके भावको हृदयपर अंकित करना। श्रीयुत चर्चिलका, जो कि केवल पशुबलके ही मंत्रको पहचानते हैं, यह कहना बहुत ठीक है कि आयलैंडका प्रश्न भारतके प्रश्नसे भिन्न प्रकारका है। उनके कहनेका आशय यह है कि आयलैंडवालोंने हिंसाकाण्डके बलपर लड़-लड़कर स्वराज्य प्राप्त किया है, अतएव यदि आवश्यकता पड़ी तो वे हिंसा-बलके द्वारा उसकी रक्षा भी कर सकेंगे। पर इसके खिलाफ यदि भारत वास्तवमें अहिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त कर ले तो उसे प्रधानतः अहिंसात्मक उपायों द्वारा उसकी रक्षा भी करनी होगी। और उसे श्री चर्चिल तभी संभवनीय मानेंगे जब भारत इस सिद्धांतको अपने उदाहरण द्वारा प्रत्यक्ष करके दिखा दे और यह बात तबतक अशक्य है जबतक समाजमें अहिंसाका इतना प्रवेश नहीं हो गया है कि जिससे लोग अपने सामुदायिक अर्थात् राजनीतिक जीवनमें अहिंसाको अपना लें; दूसरे शब्दोंमें फौजी हुकूमतके बजाय देशमें मुल्ककी हुकूमतकी प्रधानता हो जाय।

अतएव अहिंसात्मक साधनोंसे स्वराज्य प्राप्त करते हुए गोलमाल और अराजकताको स्थान मिल ही नहीं सकता। अहिंसाके बलपर स्वराज्य तो उत्तरोत्तर शांतिमय क्रांति होगी। यथा, एक संकुचित संस्थाके हाथसे सत्ताका जनताके प्रतिनिधियोंके हाथोंमें जाना उतना ही स्वाभाविक कार्य है जितना कि अच्छे परवरिश किये हुए पेड़से पूरे पके फलका गिर पड़ना। मैं फिर कहता हूँ कि ऐसी बातका पाना शायद बिलकुल असंभव हो। लेकिन मैं जानता हूँ कि

अहिंसाका तात्पर्य तो इससे कम नहीं है। और यदि वर्तमान कार्यकर्तागण इससे अधिक शांतिमय वायुमंडल तैयार हो जानेकी संभावनाको न मानते हों तो उन्हें चाहिये कि वे अहिंसात्मक कार्यक्रमको तिलांजलि दे दें और दूसरा इससे बिल्कुल भिन्न कार्यक्रम तैयार करें। यदि हम इस ख्यालको मनमें रखते हुए कि अंतको तो हम शस्त्रके बल अंग्रेजोंसे अधिकार छीन ही लेंगे, इस कार्यक्रमको उठायेंगे तो हम अपने अहिंसाके दावेके प्रति झूठे ठहरेंगे। यदि हमें अपने कार्यक्रमपर विश्वास है तो हम यह माननेके लिए भी बाध्य हैं कि अंग्रेज लोग जैसे शस्त्र-बलसे अधीन हो जाते हैं उसी प्रकार प्रेम-बलके अधीन न होनेवाले भी नहीं हैं। जो लोग इसके कायल नहीं हैं उनके लिए दो रास्ते हैं। एक तो कौंसिलें, जो उनकी दृष्टिमें विद्या और अनुभवके मंदिर हैं और उनका वह भावी कार्यक्रम, जिससे पद-पदपर उनका तेज बोध होता है और जो आगे कुछ पुश्तोंतक पूरा न हो सके अथवा तेजीके साथ होनेवाली खूनी क्रांति; ऐसी क्रांति जो पृथ्वी-पटल-पर शायद अबतक न देखी गयी हो। ऐसी क्रांतिमें शरीक होनेकी मेरी जरा भी इच्छा नहीं। मैं उसकी तैयारीमें साधन-रूप भी नहीं होना चाहता। अतएव मेरी रायमें सवाल यह है कि या तो हम असहयोगके साथ प्रमाणिक अहिंसाका—जो असहयोगका सहज फल है—अवलम्बन करें या प्रतियोगी-सहयोगको अर्थात् विरोधके साथ सहयोगको अपनावें।

यंग इंडिया
२८ जुलाई, १९२१

*"ऐसे व्यक्तिको अहिंसामें अभ्यस्त नहीं किया जा सकता, जो मरनेसे डरता है अथवा प्रतिकारकी शक्ति या साहस ही नहीं रखता। बिना मारे मर जानेको मैं बेहतर समझता हूँ, परन्तु यदि साहस न हो तो मारते हुए मरना ही अच्छा है—जीनेके लिए मरनेमें कोई बड़ाई नहीं। खतरेसे भागना तो बुजदिली है।"*

*—गांधीजी*

# तलवारका सिद्धान्त

यह युग पशुबलका युग है। इस युगमें सहसा किसीको इस बातका विश्वास नहीं होता कि कोई भी पशुबलकी प्रधानताको किसी भी उपायसे जीत सकता है। इसलिए मेरे पास बराबर गुमनाम पत्र आ रहे हैं जिनमें लिखा रहता है कि आप असहयोगकी प्रगतिमें बाधा न डालिये, चाहे इससे हिंसा ही क्यों न उत्पन्न हो जाय। इसी तरहके और भी पत्र आये हैं जिनके लेखकोंने इस बातको स्वीकार कर लिया है कि मैं गुप्त रूपसे हिंसाकी योजना कर रहा हूँ और मुझसे पूछते हैं कि वह शुभ घड़ी कब उपस्थित होगी जब हम लोगोंको खुली तौरसे हिंसामें प्रवृत्त होनेका अवसर मिलेगा। वे लोग मुझे विश्वास दिलाते हुए लिखते हैं कि प्रकट या गुप्त रूपसे हिंसाके सिवा अंग्रेज जाति और किसी उपायसे परास्त नहीं की जा सकती। एक तीसरे लोग भी हैं जो कहते हैं कि मैं अपनी कूटनीति किसीपर प्रकट नहीं होने देता, क्योंकि उन्हें इस बातमें जरा भी संदेह नहीं है कि मैं सर्व-साधारणके साथ हिंसापूर्ण व्यवहार रखता हूँ।

इस तरहसे स्पष्ट है कि तलवारके सिद्धांतने अधिकांश जनताके ऊपर प्रबल प्रभाव जमा रखा है। और दूसरी ओर असहयोगकी विजय एकमात्र हिंसाके अभावपर ही निर्भर करती है। इस संबंधमें मेरे मतपर ही अधिकांश जनताका मत निर्भर करता है इसलिए इस संबंध मैं अपना मत मैं स्पष्ट शब्दोंमें कह देना चाहता हूँ।

मेरा यह स्थिर मत है कि जहाँ कायरता और हिंसाका सवाल है वहाँ मैं हिंसाकी योजना करूँगा और इसीकी राय दूँगा। जिस समय मेरे ज्येष्ठ पुत्रने मुझसे पूछा कि जिस समय उत्तेजित जनताने आपको दक्षिण अफ्रीकामें बुरी तरहसे पीटा था उस समय यदि घटनास्थलपर मैं होता तो मेरा क्या कर्त्तव्य होता, मैं डरके मारे वहाँसे भाग गया होता या बल-प्रयोगसे भीड़के साथ लड़ाई करता और आपकी रक्षा करता। मैंने उससे कहा कि उस समय तुम्हारा यही कर्त्तव्य था कि तुम बल प्रयोगसे मेरी रक्षा करो। इसी भावनासे प्रेरित होकर मैंने युद्धमें भाग लिया था। जूलू-विद्रोह तथा विगत यूरोपीय युद्धमें भी मेरे भाग लेनेका यही कारण था। और इसी सिद्धांतके अनुसार मैं शस्त्र-शिक्षाका परामर्श उन लोगोंको देता हूँ जो हिंसामें विश्वास करते हैं। इसलिए दूसरी युक्ति न होती तो मैं भारतके लिए भी यही सलाह देता कि इस तरह कायरोंकी भाँति पड़े-पड़े अपने अपमान और अप्रतिष्ठाके दृश्य देखनेसे अच्छा तो शस्त्र ग्रहण करके मर मिटना ही अच्छा है।

पर मेरा विश्वास है कि हिंसासे अहिंसाकी मर्यादा बलवती है, दंड देनेसे क्षमा-दान कहीं वीरत्वका लक्षण है। क्षमादान सच्ची वीरताका प्रमाण है। यदि दंड देनेकी

मुझमें क्षमता है और मैं दंड देना स्वीकार नहीं करता तो वही क्षमा सच्ची क्षमा है। यदि लाचारीके कारण क्षमता न होनेपर भी हमने क्षमादान किया तो उस क्षमादानका कोई महत्त्व नहीं। एक बिल्ली चूहेको पकड़कर काट-काट कर खा रही है और चूहा लाचार चुपचाप अपने प्राणोंको खो रहा है। यदि वह चूहा यह कहे कि हमने बिल्लीको क्षमादान दे दिया है तो उसका क्या महत्त्व होगा। इसलिए जो लोग जेनरल डायर तथा उसके क्रूर अत्याचारोंके कारण उसे दंड देनेकी योजना करना चाहते हैं और उसके लिए शोर-गुल मचाते ही हैं उनकी प्रशंसा करनी चाहिये। यदि वे कर सकते तो उसे टुकड़े-टुकड़े कर डालते। पर मैं भारतको एकदम लाचार नहीं समझता। मैं अपनेको एकदमसे गया-गुजरा जीव नहीं समझता। केवल मैं अपनी तथा भारतकी शक्तिका प्रयोग दूसरे तरहके और उपयोगी काममें लाना चाहता हूँ।

पर मैं चाहता हूँ कि मुझे कोई गलत न समझ ले। शक्तिकी उत्पत्ति शारीरिक बलसे ही नहीं होती। इसके लिए दृढ़ साहस होना चाहिये। जूलू जाति शारीरिक बलमें किसी भी अंग्रेजसे घटकर नहीं है। पर वह साधारण अंग्रेज बच्चेको भी देखकर डर जाती है क्योंकि वह उसके रिवाल्वरसे डरती है। इतनी भयानक मूर्ति धारण करनेपर भी वह मृत्युके भयसे सहम जाती है। भारतकी आबादी ३० करोड़ है। अंग्रेजोंकी संख्या एक लाख है। क्या इतने ही अंग्रेज समस्त भारतवासियोंमें आतंक उपस्थित कर सकते हैं? इसलिए यदि हमने क्षमादानका वास्तविक रूप उपस्थित कर दिया तो हमारा बल और भी व्यक्त हो जाता है। क्षमादानको व्यक्त करनेसे हम लोगोंमें साहसका प्रबल जोर आ जायेगा। उस साहसके सामने कोई भी डायर या जानसन भारतके उन्नत ललाटपर कोई बोझा नहीं डाल सकेगा। इसका मुझे विशेष ख्याल नहीं है कि इस समय भारतवासियोंके हृदयोंमें अपने विचारोंका समावेश नहीं कर सकता। हम लोग इस समय इतने गिर गये हैं, अपनेको इतना पददलित समझते हैं कि हममें क्रोध प्रकट करने या बदला लेनेकी भी शक्ति नहीं रह गयी। पर मैं यह बात दृढ़तासे कह सकता हूँ कि दंड देनेके समय इस अधिकारके परित्यागसे ही भारतवर्ष अधिक लाभ उठा सकता है। हमारे सामने इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण काम है। हमें संसारको इससे भी उत्तम संदेश देना है।

मैं स्वप्नदर्शी या आदर्शवादी नहीं हूँ। मैं पक्का व्यवहारी हूँ। अहिंसा-धर्म केवल ऋषि-मुनि और तपस्वियोंके लिए नहीं है। जन-साधारणके लिए भी वह उतना ही उपयोगी और स्वीकार करने योग्य है। जिस तरह पशुओंका धर्म हिंसा है उसी तरह हमारा धर्म अहिंसा है। पशुमें वही प्रधान रहती है और वह हिंसाके अतिरिक्त और कोई नियम या कानून नहीं जानता। पर मनुष्य धर्मको उससे उन्नत नियमको अंगीकार करना चाहिये अर्थात् आत्मबलको उसे स्वीकार करना चाहिये।

इसीलिए मैंने भारतके समक्ष आत्मत्यागके प्राचीन नियमको रखनेका साहस किया है; क्योंकि उसी तपस्या या आत्मत्यागका दूसरा नाम सत्याग्रह, असहयोग या निष्क्रिय प्रतिरोध है। जिन ऋषियोंने हिंसाके बीचमेंसे अहिंसाका मंत्र निकाला उनमें न्यूटनसे कहीं अधिक क्षमता थी। उनकी वीरता और साहसिक शक्ति वेलिंगटनसे कम नहीं थी। शस्त्र-शक्तिके प्रयोगको भलीभाँति समझकर उन्होंने उसकी निःसारता देख ली और इसलिए उन्होंने उस खिन्न और श्रांत संसारको सिखलाया कि मोक्ष या उद्धार अहिंसाके द्वारा जिस तरह हो सकता है, हिंसाके द्वारा उस तरह नहीं हो सकता।

अहिंसाका अभिप्राय है तपस्या या आत्मोत्पीड़न। इससे यह भाव नहीं निकलता कि हमने दुराचारीके दुराचारके सामने भय और दुर्बलताके कारण सिर झुका दिया है, बल्कि इससे यह ज्ञात होता है कि हमने अहिंसाके द्वारा ही उसके पशुबलका सामना करनेका निश्चय किया है। इसके अनुसार काम करनेसे एक व्यक्ति भी अत्याचारीके अत्याचारका सामना करके अपनी मर्यादाकी रक्षा कर सकता है, अपना धर्म बचा सकता है, अपनी आत्माकी रक्षा कर सकता है और उस साम्राज्यके उत्थान या पतनकी योजना कर सकता है।

इसलिए मैं भारतको अहिंसाका मंत्र दे रहा हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि वह दुर्बल है। उसे अपनी शक्तिका अनुमान करके अहिंसाके पथपर चलना चाहिये। उसे अपनी शक्तिका पता लगानेके लिए शस्त्र-शिक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं है। हम बल-शक्तिकी आवश्यकता इसलिए समझते हैं कि हम अपनेको हाड़-माँसका एक पुतला समझते हैं। मैं चाहता हूँ कि भारतवासी इस बातको समझ लें कि उनमें एक आत्मा है जो अमर है, जिसका नाश नहीं हो सकता, जो शारीरिक दुर्बलताके ऊपर उठ सकती है और संसारकी सभी बल-शक्तिका सामना कर सकती है। भगवान रामचंद्रने अपने बानरोंके एक दलको लेकर अगाध समुद्रसे घिरी लंकापर चढ़ाई करके दश-सिरवाले रावणके साथ युद्ध ठाना। इसका क्या अभिप्राय है? क्या यही पशु-बलके ऊपर आत्मबलके विजयका ज्वलंत उदाहरण नहीं है? मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मैं व्यावहारिक आदमी हूँ। इसलिए मैं उस समयकी प्रतीक्षा नहीं कर सकता, जब भारत इस आत्मबलकी उपयोगिताको समझ सकेगा। भारत जानता है कि मशीनगनों और सुरंगोंके सामने उसकी शक्ति बेकार है, वह उनसे डरकर कायर बन गया है। इसी दुर्बलताके कारण वह असहयोगको स्वीकार कर रहा है। यदि इसी विश्वाससे अधिक लोगोंने इसे अपनाया तो अभीष्टकी सिद्धि अवश्य होगी अर्थात् ब्रिटिश अन्याय-परायणताका नाश अवश्य हो जायगा।

सिनफिन तथा असहयोगसे कोई संबंध नहीं है, क्योंकि एकका ध्येय हिंसा है और दूसरेका अहिंसा। पर मैं हिंसाके पक्षपातियोंसे भी इस बातकी प्रार्थना करूँगा कि कमसे कम एक बार तो इसे आजमाकर देख लें कि इससे क्या फल होता है। इसकी यदि असफलता हुई तो इसका कारण यह नहीं होगा कि इसमें

किसी तरहकी आंतरिक दुर्बलता है बल्कि इसका कारण यह होगा कि इसमें लोगोंने विश्वास .नहीं किया और इसे अपनाया नहीं। वही समय सच्चे भय और आतंकका है। उस आत्मासे, जो राष्ट्रीय अपमानको नहीं सह सकती, अपने क्रोधको प्रकट करेंगी और हिंसाका सहारा लेंगी। पर इसका परिणाम जहाँतक मैं समझता हूँ यह होगा कि वे अपना, अपनी जाति तथा अपने देशका उद्धार किये बिना नष्ट हो जायँगी। यदि आज भारत तलवारका सहारा लेता है तो संभव है कि क्षणिक विजय उसे प्राप्त हो जाय। पर, यह भारत मेरे अभिमानका कारण नहीं रह जायगा। मैं भारतमें तन-मनसे लगा हूँ क्योंकि मेरा अपना कुछ नहीं है, मेरा सर्वस्व उसी भारतका है। मेरी दृढ़ धारणा है कि वह विश्वको नया संदेश देगा। वह अंधोंकी तरह यूरोपका अनुकरण नहीं करेगा। जिस समय भारत तलवारके सिद्धांतको स्वीकार कर लेगा, उसी समय मेरी परीक्षा-का समय भी उपस्थित हो जायगा। मुझे पूरी आशा है कि उस समय मैं किसी भी तरह अपनेको अयोग्य नहीं साबित करूँगा। मेरा धर्म किसी सीमाके अंतर्गत नहीं है। यदि मेरे आदर्शमें मेरा अटल विश्वास है तो वह भारतके प्रति जो हमारा प्रेम है उसे अवश्य लाँघ जायगा। मैं जानता हूँ कि हिंदू धर्मकी जड़ अहिंसा है और अहिंसाके द्वारा ही मैंने भारतकी सेवा करना निश्चय किया है।

इसलिए मेरी उन लोगोंसे प्रार्थना है, जो मुझपर विश्वास नहीं करते, कि आप कृपापूर्वक इस विश्वासपर कि मैं अंतमें हिंसाकी योजना अवश्य करूँगा, इस आंदोलनमें हिंसाका समावेश करके इसे कलुषित न कीजिये। मैं रहस्यकी नीतिको पाप समझता हूँ। मैं उन लोगोंसे प्रार्थना करूँगा कि वे अहिंसात्मक असहयोगको आरंभ कर दें। उन्हें आपसे आप ही विदित हो जायगा कि मेरे हृदयमें कोई अन्य भाव गुप्त या छिपे नहीं हैं।

यंग इंडिया
११ अगस्त, १९२०

*"आवेश और क्रोधको वशमें कर लेनेसे शक्ति बढ़ती है और आवेशको आत्मबलके रूपमें परिवर्तित कर दिया जा सकता है।"*

*—गांधीजी*

## मेरा पथ

यूरोप और अमेरिकामें आजकल मेरे प्रति लोगोंका ध्यान खिंच रहा है। यह मेरे लिए सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनों ही की बात है। सौभाग्यकी बात तो इसलिए है कि पश्चिममें भी मेरे संदेशका लोग समझते और मनन करते हैं। मेरा दुर्भाग्य यह है कि कोई तो अनजानमें उसकी महत्ता बहुत ही बढ़ा देते हैं और कोई तो जान-बूझकर उसका रूप बिगाड़ देते हैं। सत्य सर्वदा स्वावलंबी होता है और बल तो उसके स्वभावमें ही होता है। इसलिए जब मैं देखता हूँ कि लोग मेरे संदेशको गलत रूपमें पेश करते हैं तब भी मैं विचलित नहीं होता। एक यूरोपियन मित्रने कृपापूर्वक मुझे इस बातकी चेतावनी भेजी है कि या तो बुरी नीयतसे या भूलसे रूसमें मेरे मतके विषयमें बड़ी गलतफहमी फैली हुई है। मालूम नहीं उन्हें कहाँतक सच खबर मिली है। नीचे उनके पत्रका अनुवाद लीजिये।

"बोलशेविक सरकार गांधीजीके पीछे अजीब-अजीब प्रयत्न कर रही है। कहा जाता है कि बर्लिन-स्थित रूसी राज्य प्रतिनिधि क्रेसटिंसकीको पर-राष्ट्रसचिवकी ओरसे कहा जायगा कि वह अपनी सरकारकी ओरसे गांधीजीका स्वागत करें और इस स्थितिसे फायदा उठाकर गांधीजीके अनुयायियोंमें बोलशेविक मतका प्रचार करानेका उद्योग करें। इसके अलावे क्रेसटिंसकीको यह भी काम दिया जायगा कि गांधीजीको रूसमें आनेके लिए निमंत्रण दें। एशियाकी दलित-पीड़ित जातियोंमें बोलशेविक साहित्यके प्रचारके लिए धन खर्च करनेका भी उन्हें अधिकार दिया गया है। ओरियंटल-क्लब सेक्रेटेरियटके कामके लिए वे गांधीजीके नामपर एक थैली खोलनेवाले हैं जिससे कि उनके (गांधीजीके या मास्कोवालोंके?) मतको माननेवाले विद्यार्थियोंको सहायता दी जायगी। अंतमें, इसमें तीन हिन्दू भरती किये जायँगे। १८ अक्तूबरको यह सब रूसी समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित हो गया है।"

इस मजमूनसे इस खबरका कुछ रहस्य मिल जाता है जिसके द्वारा मेरे जर्मनी और रूस जानेके लिए आमंत्रित किये जानेकी संभावना बतायी गयी थी। यह कहनेकी तो जरूरत ही नहीं है कि न तो मुझे ऐसा कोई निमंत्रण ही मिला है और न मैं इन महान देशोंमें जानेकी कुछ अभिलाषा ही रखता हूँ। क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरे प्रतिपादित सत्यको अभी खुद भारतवर्षने भी पूरे तौरसे ग्रहण नहीं किया है—वह अभी यथेष्ट रूपमें प्रस्थापित भी नहीं हो पाया है। हिन्दुस्तानमें जो काम मैं कर रहा हूँ, वह अभी प्रयोगावस्थामें ही है। ऐसी हालतमें मेरे लिए विदेशोंमें जाकर किसी साहसिक कार्यके करनेका समय अभी नहीं आया है।

यदि हिन्दुस्तानमें ही यह प्रयोग प्रत्यक्ष रूपसे सफल हो जाय तो मैं पूर्ण रूपसे संतुष्ट हो जाऊँगा।

मेरा रास्ता साफ है। हिंसात्मक कामोंमें मेरा उपयोग करनेके सभी प्रयत्न अवश्य विफल होंगे। मेरे पास कोई गुप्त मार्ग नहीं है। मैं सत्यको छोड़कर किसी कूटनीतिको नहीं जानता। मेरा एक ही शस्त्र है—अहिंसा। संभव है कि मैं अनजाने, कुछ दूरके लिए गलत रास्ते भटका लिया जाऊँ किंतु यह हमेशाके लिए नहीं चल सकता। अतएव मैंने अपने लिए ऐसी कैद निश्चित कर ली है जिसके दायरेके भीतर ही मुझसे काम लिया जा सकता है। इसके पहले भी मुझसे अनुचित काम निकालनेके अनेक प्रयत्न किये गये हैं। जहाँतक मुझे मालूम है, वे हर बार निष्फल ही हुए हैं।

बोलशेविज्मको मैं अभी ठीक-ठीक नहीं समझ सका हूँ। मैं इसका अध्ययन भी नहीं कर सका हूँ। मैं यह भी नहीं कह सकता कि रूसके लिए अंतमें यह लाभकारक होगा या नहीं। तो भी इतना तो मैं अवश्य जानता हूँ कि जहाँतक इसका आधार हिंसा और ईश्वर-विमुखतापर है, यह मुझे अपनेसे दूर ही हटाता है। मैं यह नहीं मानता कि हिंसात्मक लघुपथोंमें सफलता मिलती है। जो बोलशेविक मित्र इस समय मेरी हरकतपर ध्यान दे रहे हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि मैं ऊँचे उद्देश्योंकी चाहे जितनी प्रशंसा करूँ और उनके साथ सहानुभूति दिखलाऊँ किंतु श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ कार्यके लिए मैं हिंसात्मक पद्धतिका अटल विरोधी हूँ। अतएव हिंसावादियोंके और मेरे मिलापके लिए कोई गुंजाइश नहीं है। इतना होनेपर भी मेरा अहिंसा-धर्म मुझे न केवल नहीं रोकता है बल्कि अराजकों और अन्य सभी हिंसावादियोंसे संपर्क रखनेपर मजबूर करता है। किंतु यह संसर्ग केवल इसी आशयसे है कि उन्हें मैं उस राहसे बचाऊँ जो मुझे गलत दिखाई देती है। क्योंकि मुझे अपने अनुभवसे विश्वास हो गया है कि स्थायी कल्याण असत्य और हिंसाका फल कभी हो ही नहीं सकता। यदि मेरा यह विश्वास केवल एक भोलेकी भ्रांति ही हो तो भी शायद लोग मान लेंगे कि यह है एक मनोहारिणी भ्रांति।

हिंदी नवजीवन
१४ दिसंबर, १९२४

*'मेरा जीवन खुली पुस्तक है; उसमें कोई भेद नहीं और मैं रहस्यको प्रोत्साहन भी नहीं देता। सत्य ही परमात्मा है और उसीके निर्देशसे हमारा पथ-प्रदर्शन होता रहे, यही मेरी कामना है।"*

*—गांधीजी*

# अहिंसाका मर्म

एक सज्जन नीचे लिखे सवाल करते हैं—

१. क्या यह बात सच है कि विदेशी चीनीमें हड्डियाँ तथा खून आदि अपवित्र चीजें डाली जाती हैं?

२. अहिंसा व्रतका पालन करनेवाला मनुष्य विदेशी शक्कर खा सकता है?

३. जो शख्स अहिंसाकी दृष्टिसे खादी पहनते हैं वे स्वराज्यके मिलनेके बाद भी खादी पहनेंगे?

४. खादी पहनना अहिंसाका सवाल है या राजनीतिक सवाल है? हिंसाकी दृष्टिसे देखें तो मिलके कपड़ेमें अधिक हिंसा है या विलायती कपड़ेमें, हालांकि दोनोंके यन्त्र एकसे होते हैं?

५. अहिंसा-व्रतका पालन करनेवाला चाय पी सकता है? यदि न पीना चाहिये तो उसमें हिंसा किस तरह होती है?

ऐसे सवालोंका जवाब देते हुए मुझे संकोच होता है, क्योंकि ऐसे सवाल अज्ञान-सूचक हैं। कितने ही पाठक ऐसे सवाल किया करते हैं, इसलिए उनका निर्णय कर डालना उचित मालूम होता है। पर इन सवालोंके जवाबके निमित्त मैं अहिंसा-तत्त्वको भी जिस तरह समझता हूँ, विशद करना चाहता हूँ।

विदेशी चीनीके अन्दर हड्डियाँ आदि नहीं रहतीं; पर हाँ, ऐसा सुना है कि उनका उपयोग चीनी साफ करनेमें किया जाता है। यह माननेका कोई कारण नहीं कि ऐसा प्रयोग देशी चीनीके लिए नहीं होता है।

इस कारण अहिंसाकी दृष्टिसे शायद दोनों प्रकारकी शक्कर त्याज्य हैं अथवा यदि लेना ही हो तो शक्करकी बनावटकी जाँच करना उचित है। इसलिए विदेशी शक्करका त्याग स्वदेशीके उत्तेजनके लिए ही करना उचित है। पर शक्कर मात्रके त्यागके लिए अहिंसाकी एक सूक्ष्म दृष्टि है। प्रत्येक प्रक्रियामें हिंसा है। अतएव प्रत्येक खाद्य-पदार्थपर जितनी कम प्रक्रिया हो उतना ही अच्छा है। गन्ना चूसना सबसे उत्तम है; गुड़ उससे कम और चीनी उससे भी कम। परन्तु सर्व-साधारणके लिए इस सूक्ष्मताके अन्दर पड़नेकी मैं बिल्कुल जरूरत नहीं समझता।

खादी पहिननेवाला अहिंसा और स्वराज्य दोनों दृष्टिसे स्वराज्य मिलनेके बाद भी खादी ही पहिनेगा। स्वराज्य जिनके बलपर मिलेगा उन्हीं साधनोंके बलपर वह कायम रह सकेगा। जो राष्ट्र अपनी जरूरियातोंके लिए विदेशोंपर मुनहसर रहता है वह परतन्त्र होता है अथवा औरोंको गुलाम बनाता है।

खादी पहननेमें अहिंसा, राजकाज और अर्थशास्त्र, तीनोंका समावेश हो जाता है। पूर्वोक्त नियमके अनुसार खादीपर प्रक्रियाएँ कम होती हैं, इसलिए उसमें हिंसा कम है।

इसके अतिरिक्त विदेशी या स्वदेशी मिलके कपड़ेका मुकाबला करते हुए, दोनोंमें एक ही प्रकारके यन्त्रोंके रहते हुए भी स्वदेशी मिलके कपड़ोंमें कम हिंसा है। क्योंकि ऐसा करते हुए प्रेम-भाव हमारे हृदयमें अपने पड़ोसी-भाइयोंके प्रति रहता है। परंतु विदेशी कपड़ेका इस्तेमाल करनेमें प्रेमका अभाव होता है। यही नहीं, बल्कि बिल्कुल स्वच्छंदता, स्वार्थ, या अपनी ही सुविधाका सवाल रहता है और परमार्थका, प्रेमका अर्थात् अहिंसाका अभाव रहता है।

अहिंसा-व्रत पालनेवाला चाय पी भी सकता है और न भी पी सकता है। चायमें भी प्राण है। वह निरुपयोगी वस्तु है। इस कारण उसके लेनेसे होनेवाली हिंसा अनिवार्य नहीं है। अतएव उसका त्याग इष्ट है। जहाँ-जहाँ चायके बगीचे हैं, वहाँ-वहाँ गिरमिटिया लोगोंसे मजूरी करायी जाती है। गिरमिटिया लोगोंके दुःखोंसे हिन्दुस्तान वाकिफ है। जिस पदार्थकी बनावट मजदूरोंके लिए कष्टदायी होती है, वह भी अहिंसाकी दृष्टिसे त्याज्य है। व्यवहारमें हम इतनी बारीक बातोंका ख्याल नहीं करते। इस कारण जिस तरह दूसरी चीजोंको अहिंसाकी दृष्टिसे निर्दोष समझते हैं उसी तरह चायको भी मान सकते हैं। वैद्यककी दृष्टिसे चायमें गुणकी अपेक्षा दोष अधिक हैं, खासकर जब वह उबाली जाती है।

इन प्रश्नोंसे यह जाना जाता है कि अहिंसाकी बातें करनेवाले अहिंसाको कितना कम पहचानते हैं। अहिंसा एक मानसिक स्थिति है। जिसने इस स्थितिको नहीं समझा है, वह चाहे कितनी ही चीजोंको त्याग दे, तो भी उसे उनका फल शायद ही मिलता हो। रोगी रोगके लिए बहुतेरी चीजोंसे परहेज करता है। इससे उसके इस त्यागका फल रोग दूर करनेके अतिरिक्त नहीं मिलता। दुष्काल-पीड़ितको यदि भोजन न मिले तो इससे उसे उपवासका फल नहीं मिलता। जिसका मन संयमी नहीं है उसकी कृतिमें चाहे संयम भले ही दिखायी दे, पर वह संयम नहीं है। खाद्य-अखाद्यके विषयमें अहिंसाका समावेश नहीं होता। अहिंसा क्षत्रियका गुण है। कायर उसका पालन नहीं कर सकता। दया तो शूर-वीर ही दिखा सकते हैं। जिस कार्यमें जिस अंशतक दया है उस कार्यमें उसी अंशतक अहिंसा हो सकती है। इसलिए दयामें ज्ञानकी आवश्यकता है। अंध-प्रेमको अहिंसा नहीं कहते। अंध-प्रेमके अधीन होकर जो माता अपने बालकको अनेक तरह दुलराती है वह अहिंसा नहीं, अज्ञान-जात हिंसा है। मैं चाहता हूँ कि खाने-पीनेकी मर्यादाओंको महत्त्व न देकर लोग उसका पालन करते हुए भी अहिंसाके विराट रूपको, उसकी सूक्ष्मताको, उसके मर्मको समझें। रूढ़िके वशवर्ती होकर गो-माँस खानेवाला पश्चिमका कोई साधु पुरुष रूढ़िके अधीन होकर गो-माँसको

छोड़नेवाले पाखण्डी क्रूर मनुष्यसे कोटि गुना अधिक अहिंसक हैं। मुझसे प्रश्न पूछनेवाले खुद अपनेको कहें, करें, मैं विदेशी शक्कर, विदेशी कपड़े और चायको छोड़ता तो हूँ; पर मैं अपने पड़ोसीपर दया न करता होऊँ, गैरोंके लड़केको अपने लड़केके बराबर न मानता होऊँ, अपने व्यवसायमें मैं सचाईका पालन न करता होऊँ, अपने नौकर-चाकरोंको मैं अपना कुटुम्बी न मानकर उनके साथ प्रेम-भाव न रखता होऊँ तो मेरी खाने-पीनेकी मर्यादाका कुछ मूल्य नहीं। मेरी यह मर्यादा केवल आडम्बर है। नरसिंह मेहताका यह पवित्र वचन है 'ज्यों लगी आतमा तत्त्व चीन्यों नहीं त्यां लगी साधना सर्व झूठी'। आत्म-तत्त्वको पहचाननेके मानी हैं अहिंसामय होना। अहिंसामय होनेका अर्थ है विरोधीके प्रति प्रेम-भाव रखना, अपकारीका भी उपकार करना, अवगुणोंका बदला गुणके द्वारा देना और ऐसा करते हुए यह मानना कि यह तो मेरा कर्त्तव्य है, कोई बड़ी बात नहीं कर रहा हूँ।

हिंदी नवजीवन
१९ मार्च, १९२५

*"मेरी आत्माका प्रकाश स्पष्ट और एक-सा है। सत्य और अहिंसाके प्रभावसे हम इस प्रकाशमें आनेसे नहीं बच सकते। संघर्ष, विग्रह और युद्ध तो पाप हैं। प्रेमसे ही शांतिकी स्थायी तौरपर स्थापना की जा सकती है। जहाँ प्रेम है, वहाँ जीवन है–विकास है और जहाँ घृणा है, वहाँ विनाश है। हिंसाके हथियारको फेंक देनेके बाद प्रेमका प्याला ही प्रस्तुत किया जा सकता है।"*

*—गांधीजी*

# दुनियामें कैसे रहें ?

एण्ड्र्यूज साहबका एक लेख 'यंग इण्डिया'में पढ़कर एक सज्जनने नीचे लिखा प्रश्न एण्ड्र्यूज साहबसे पूछा। उन्होंने कुछ महीने पहिले मुझे उत्तरके लिए यह दिया था—

"मेरा जन्म और लालन-पालन देहातमें हुआ है। मेरे पिता 'अहिंसा परमो धर्मः'-का उच्चार अपने मित्रोंके साथ धार्मिक वाद-विवादके समय किया करते थे। जैसा कि आपने कहा है यह अद्वैत-तत्त्वसे फलित होनेवाला उसका सहायक तत्त्व है। सार-रूपसे उसे मैं स्वीकार करता हूँ। इसके साथ मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि अद्वैतम्‌की परम समाप्ति आध्यात्मिक जीवनकी एकतामें ही नहीं हो जाती है। जैसा कि आप भी मानते हुए दिखायी देते हैं, अखिल विश्वके भूतमात्रके प्रति, बिना किसी अपवादके आत्मभाव ही अद्वैतम् है।

"ज्यों ही मनुष्य अहिंसाको अपना मार्गदर्शक बनानेकी अवस्थामें पहुँच जाता है त्यों ही उसकी प्रगति निश्चित हो जाती है। उस अवस्थामें तमाम भेद-भाव विलीन हो जाते हैं। जब हम सबमें एकताका अनुभव करने लगते हैं तब हम किसी भी वस्तुका संहार किस तरह कर सकते हैं, जो कि हमारा ही एक अंग है?

"यही संदेह उठने लगता है। क्या अहिंसाके भावको ठेठ व्यवहारमें उसके अन्त-तक—आखिरी मर्यादातक निबाहना होगा। यदि ऐसा करना पड़े तो क्या उस अवस्थामें वह एक सद्गुण रह जायगा?

"मेरे पिता 'अहिंसा परमो धर्मः' का उच्चारण जब-तब किया करते थे। परंतु जब हमारे घरकी भैंस दूध देते समय एक जगह खड़ी नहीं रहती थी तब डंडे मारकर उसे सीधी कर देते थे। अपने बच्चोंको दूधके लिए क्या उनका ऐसा करना ठीक था?

"हिंदू लोग रामके अवतारको धर्मका अवतार कहते हैं। रामने रावणको मारा था। क्या रामने यह बुरा किया? रामने बालिका वध किया। जब बालिने उसका विरोध किया तब उन्होंने उत्तर दिया—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी, सुनु सठ ये कन्या सम चारी।
इनहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई, ताहि बधे कछु पाप न होई॥

"देखिये, यहाँ उन्हीं धर्मके अवतारके मुँहमें "हन्तेको हनिए पाप दोष ना गनिए"का, सिद्धांत ठूस दिया गया है।

"और नीचे उतरकर हम भगवान कृष्णके समयमें आवें। भगवद्गीताको लीजिये, अर्जुन अपने सगे-संबंधियोंका वध करनेके लिए नहीं तैयार होता है। भगवान कृष्ण उसे युद्ध करके उनका नाश करनेका आग्रह करते हैं और अहिंसा सिद्धांत पीछे छिप जाता है।

"ऐसी अवस्थामें यह पूछना पड़ता है कि अहिंसाके आचारकी कोई मर्यादा भी है? एक स्त्रीपर अत्याचार हो रहा है। क्या उसे, उस नराधमको मारकर उसके पंजेसे, अपनेको छुड़ाना उचित नहीं है? क्या उसे अहिंसाका पालन करना चाहिये?

"मछली पकड़ना हिंसा है। शाकके लिए वनस्पतियोंको उखाड़ना हिंसा है। जन्तुनाशक द्रव्य पानीमें डालना हिंसा है। अब बताइये दुनियामें कैसे रहें?

—एक ब्राह्मण

यदि लेखकके पिताने इस अनिच्छुक भैंसको न दुहा होता तो दुनियाकी कुछ हानि न हुई होती। तुलसीदासने रामके मुँहमें कितनी ही बातें डाली हैं। जिनका मतलब मैं नहीं समझता। बालि संबंधी सारा प्रसंग ही ऐसा है। तुलसीदासने रामके मुँहसे कहलायी इन पंक्तियोंके शब्दार्थके अनुसार चलनेसे यदि कोई फाँसीपर न चढ़ेगा तो बड़ी मुसीबतमें जरूर फँस जायगा। रामायण और महाभारतमें हर महान व्यक्तिके संबंधमें जो कुछ कहा गया है सबको मैं शब्दशः नहीं ग्रहण करता हूँ और न मैं इन ग्रंथोंको ऐतिहासिक संग्रह मानता हूँ। उनमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें आवश्यक सिद्धांतोंका वर्णन मिलता है। और न मैं राम तथा कृष्णको अस्खलनशील—कभी गलती न करनेवाले—मानता हूँ, जैसा कि इन दो महाकाव्योंमें उनका चरित्र-चित्रण मिलता है। वे अपने युगके विचारों और आकांक्षाओंको प्रतिबिम्बित करते हैं। केवल अस्खलनशील व्यक्ति ही अस्खलनशील पुरुषोंके चरित्रका यथार्थ चित्रण कर सकता है। ऐसी अवस्थामें उनका आशयमात्र हमारे लिए पथ-प्रदर्शकका काम दे सकता है। उनके अक्षर-अक्षरका अनुसरण करनेसे हमारा दम घुटने लगेगा और सब तरहकी उन्नति रुक जायगी। जहाँतक गीतासे संबंध है, मैं उसे कोई ऐतिहासिक संवाद नहीं मानता। आध्यात्मिक सिद्धांत समझानेके लिए उसमें भौतिक उदाहरण लिये गये हैं। चचेरे भाइयोंके दरम्यान हुए युद्धका नहीं बल्कि मनुष्यकी सत्-प्रवृत्ति और असत्-प्रवृत्तिमें होनेवाले युद्धका उसमें वर्णन है। मैं 'एक ब्राह्मण' महाशयसे कहता हूँ कि वे इन उदाहरणोंको छोड़कर अहिंसाके सिद्धांतोंका पर्यालोचन करें। "अहिंसा परमो धर्मः" जीवनका एक उच्चतम सिद्धांत है। उसके पालनसे यदि जरा भी हम च्युत हों तो उसे हमारा पतन समझना चाहिये। भूमितिकी सरल रेखा काले तख्तेपर चाहे न खींची जा सकती हो परंतु उस कार्यकी असंभवताके कारण वह व्याख्या नहीं बदली जा सकती।

यदि इस कसौटीपर कसें तो एक पौधेको उखाड़ना भी बुरा है। और किसी खूबसूरत गुलाबके फूलको तोड़ते हुए किसे वेदना नहीं होती? किसी घास-पातको तोड़ते समय हमें वेदना नहीं होती इससे कहीं सिद्धांतमें बाधा पड़ सकती है? इससे यही सूचित होता है कि हमें पता नहीं है कि प्रकृतिमें घास-पातका क्या स्थान है। अतएव किसी भी प्रकारकी हानि पहुँचाना अहिंसा सिद्धांतका उल्लंघन

करना है। अहिंसाके पूर्ण-पालनकी अवस्थामें अवश्य ही जीवनकी स्थिति असंभव हो जाती है। अतएव हम सब मर जायँ तो परवा नहीं, सत्यको कायम रहने देना चाहिये। प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस सिद्धांतको आखिरी मर्यादातक पहुँचाया है और यह कह दिया है कि भौतिक जीवन एक दोप है, एक जंजाल है। मोक्ष देहादिके परेकी ऐसी अदेह-सूक्ष्म अवस्था है, जहाँ न खाना है, न पीना है और इसीलिए जहाँ न दूध दुहनेकी आवश्यकता है और न घास-पातको तोड़ने की। संभव है इस तत्त्वको समझना या ग्रहण करना कठिन हो, संभव है कि पूर्णत: उसके अनुकूल जीवन व्यतीत करना असंभव हो, और है भी। फिर भी मुझको इस बातमें कोई संदेह नहीं है कि सत्य यही है और इसलिए भलाई इस बातमें है कि हम अपने जीवनको अपनी पूरी शक्तिभर उसके अनुकूल बनावें। यथार्थ ज्ञानका हो जाना मानों आधी लड़ाईको जीत लेना है। इस भव्य सिद्धांतका हम जितना ही पालन अपने जीवनमें करते हैं उतना ही वह जीवन रहने और प्रेम करने लायक होता है। क्योंकि उस अवस्थामें बजाय खुद सदा शरीरके वशमें रहनेके हम अपने शरीरको अपने वशमें रखते हैं।

हिंदी नवजीवन

१९ मार्च, १९२५

*"कमसे कम, मरनेसे हमें बिल्कुल नहीं डरना चाहिये। जन्म और मरन तो हमारे भाग्यमें लिखा हुआ है, फिर उसमें हर्ष-शोक क्यों करें? अगर हम हँसते-हँसते मरेंगे तो सचमुच एक नये जीवनमें प्रवेश करेंगे।"*

*—गांधीजी*

❀

## स्वराज्यमें

"क्या आपके स्वराज्यमें सेनाके लिए कोई जगह है? आपके स्वराज्यमें क्या सरकार सेना रखेगी? यदि हाँ, तो क्या वह आवश्यकता पड़नेपर शारीरिक शक्ति भी काममें लायेगी या अपने दुश्मनोंके विरुद्ध सत्याग्रह करने लग जायगी?"

दुःखकी बात है कि आजके मेरे स्वराज्यमें सेनाके लिए भी स्थान है। मेरे क्रान्तिकारी साथियोंको यह मालूम होना चाहिये कि देशकी जनताको निःशस्त्र कर और नपुंसक बना देनेको मैंने अंग्रेजोंका सबसे बड़ा पाप कहा है। मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं सारे देशको अहिंसामय कर सकूँ, इसलिए मैं अहिंसाका प्रचार देशकी स्वतंत्रता पाने और उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करनेके लिए ही देता हूँ। किंतु मेरी कमजोरीसे यह न समझना चाहिये कि अहिंसाके सिद्धांतमें कोई कमजोरी है। अपनी बुद्धि द्वारा मैं अहिंसाके पूर्ण गौरवको देखता हूँ। मेरा हृदय उसका अनुभव करता है। किंतु मुझमें अभी वह क्षमता नहीं है जिससे पूर्ण रूपसे अहिंसाकी शिक्षा दे सकूँ। इस कामके लिए अभी हममें पूरी शक्ति नहीं आयी है। मुझमें अभी क्रोध है, मुझमें अभी द्वैतभाव है। मैं अपने मनोवेगोंपर शासन कर सकता हूँ। उन्हें मर्यादामें रख सकता हूँ किंतु पूर्ण रूपसे इस प्रकार प्रचार करनेमें कि उसका प्रभाव पड़े, मनोवेगोंसे बिलकुल मुक्त होना चाहिये। मुझे ऐसा होना चाहिये कि मुझसे कोई पाप न हो। क्रांतिकारियोंको मेरे साथ और मेरे लिए प्रार्थना करनी चाहिये कि मैं शीघ्र वैसा बन सकूँ। किंतु इसी बीच उसे मेरे साथ वह कदम उठाना चाहिये जिसे मैं प्रकाशकी भांति देख रहा हूँ। अर्थात् अहिंसा द्वारा भारतकी स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहिये और तब स्वराज्यमें आपके और मेरे पास शिक्षित, बुद्धिमान और संयमी पुलिसकी सेना होगी जो देशके भीतर शांति रखे और बाहरी हमला करनेवालोंसे रक्षा करेगी, यदि उस समयतक इन दोनोंके लिए कोई और अच्छा रास्ता नहीं दिखाई देता।

यंग इण्डिया
७ मई, १९२५

# किनारेपर

एक पत्र-लेखक कुछ प्रश्न पूछकर अंतमें लिखते हैं :—

"मैं आशा करता हूँ कि आप इन विषयोंपर प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे और जबतक मैं बाही-तबाही न पूछने लगूँ, मेरे साथ चर्चा जारी रखेंगे। मैं आपका अनुयायी हूँ, आपके नेतृत्वमें जेल जा चुका हूँ। जब मैं आपके बहुत नजदीक था और बहुत मौका भी था तब भी मैंने आपसे कोई बात-चीत नहीं की; क्योंकि मैं आपका समय बरबाद नहीं करना चाहता था। मैंने आपके चरण-स्पर्शतक नहीं किये। पर अब आपके युक्तिवाद और राजनीतिक विचारोंसे मेरा विश्वास हिल रहा है। मैं कोई क्रान्तिवादी नहीं हूँ, पर मैं उसके किनारेपर हूँ। यदि आप इन बातोंका जवाब संतोषजनक देंगे तो आप मुझे बचा लेंगे।"

अब मैं क्रमशः उनके सवालोंको लेता हूँ—

"अहिंसा क्या है? चित्तकी एक वृत्ति है या प्राणका नाश न करना है? यदि यह दूसरी बात हो तो क्या यह संभवनीय है कि हम इसके अंततक जाकर इसका पालन कर सकें। क्योंकि हम अपने भोजन इत्यादिमें रोज असंख्य प्राणियोंकी हिंसा करते हैं और उस अवस्थामें हम वनस्पतिको भी नहीं छू सकते।"

अहिंसा चित्तकी एक वृत्ति भी है और तज्जात कर्म भी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वनस्पतिमें भी प्राण है; परंतु वनस्पतिका उपयोग किये बिना भी हम नहीं रह सकते। यह जीवके नाशसे तो किसी तरह कम नहीं है। सिर्फ उसे क्षम्य मानना चाहिये।

"यदि हम जीव-हिंसासे बच नहीं सकते, तो इसके यह मानी नहीं कि हम बिना आगा-पीछा सोचे उसकी हिंसा करते ही रहें; पर उस हालतमें आवश्यकता साबित होनेपर, सिद्धांतकी दृष्टिसे उसपर आपत्ति नहीं की जा सकती। कार्य-साधकताकी दृष्टिसे भले ही आक्षेप हो।"

ऐसे अवसरपर भी जहाँ हिंसा की आवश्यकता सिद्ध होती हो, सिद्धांतकी दृष्टिसे हिंसाका समर्थन नहीं कर सकते। कार्य-साधकताकी ही दृष्टिसे उसका बचाव किया जा सकता है।

"यदि अहिंसाका अर्थ है प्राणका न नाश करना, तो फिर किसी शख्सको प्राणका नाश करनेके लिए किस तरह कह सकते हैं—ऐसे कामके लिए भी जो कितना ही पवित्र और धार्मिक हो? क्या वह खुद उसकी अपनी प्रतिहिंसा न होगी?"

हाँ, मैं किसी आदमीसे बराबर यह कह सकता हूँ कि किसी कामके लिए

अपनी जान दे दो, पर अपनेको हिंसाका दोषी न बनाओ। क्योंकि अहिंसाका अर्थ है—औरोंको तकलीफ न देना।

"अपने प्राणसे प्यार करना मनुष्य-स्वभाव है। जब एक आदमी अपने देश या समाजकी आवश्यकताके लिए अपनी जान देता है तो आवश्यकता पड़नेपर वह औरोंकी जान कुरबान क्यों नहीं कर सकता? हमें सिर्फ इतना ही साबित करना होगा कि उसकी जरूरत थी। सो यह भी कार्य-साधकताका ही सवाल है।"

जो अपनी जानसे मुहब्बत करेगा वह उसे खोयेगा। जो अपनी जानको गवाँ देगा वह उसे पायेगा। आवश्यकताकी बिनापर दूसरेकी जानको कुरबान करनेका समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि आवश्यकताको साबित करना असंभव है। हमें खुद उसमें काजी नहीं बनना चाहिये। बल्कि वही एक-मात्र काजी होंगे जिनकी जान हम लेना चाहते हैं। अहिंसाके पक्षमें एक अच्छा कारण यह है कि हमारा निर्णय गलत भी हो सकता है। मध्ययुगके उन ईसाई लोगोंका अटल विश्वास था कि हमारा कार्य धर्म्य है; पर अब हम जानते हैं कि वे बिल्कुल गलतीपर थे।

"कुरबानी और खून में क्या भेद है?"

कुरबानीके मानी हैं खुद कष्ट सहना, जिससे दूसरेको लाभ पहुँचे। खूनके मानी हैं दूसरेको तकलीफ देना—मार डालना जिससे खूनी या जिसकी तरफसे खून किया गया है उसे लाभ हो।

"क्या जो डाक्टर आपको नश्तर लगाता है वह आपको कुछ समयके लिए तकलीफ पहुँचानेके कारण निन्दा-योग्य है? पर क्या हम उसकी चित्तकी वृत्ति अर्थात् बीमारको लाभ पहुँचानेके हेतुपर ध्यान रखकर उसके हिंसात्मक कार्यपर ध्यान न दे, उसकी और भी अधिक प्रशंसा नहीं करते हैं?

यह हिंसा शब्दका अप-प्रयोग है। हिंसाका अर्थ है किसीको बिना उसकी रजामंदीके या बिना उसे किसी तरहका लाभ पहुँचाये चोट पहुँचाना। मेरी बाबत तो सर्जन मेरे ही हितके लिए, मेरी लिखित रजामंदीसे मुझे कुछ समयके लिए तकलीफ पहुँचाता है। पर एक क्रांतिकारी अपने शिकारको उसके भलेके लिए नहीं लूटता है, भलेके लिए नहीं वध करता है—उसे तो वह चोट पहुँचानेके ही काबिल समझता है—बल्कि समाजके कल्पित हितके लिए।

"क्या और बलोंकी तरह शारीरिक बल भी जीवनका प्रबल अंश नहीं है? जिस प्रकार अहिंसाका आश्रय भीरु लोग अपनी भीरुताको छिपानेके लिए ले सकते हैं उसी तरह हिंसाका भी दुरुपयोग पशु और जालिम कर सकते हैं। इससे यह साबित नहीं होता कि हिंसा खुद कोई बुरी चीज है।"

शारीरिक बल निस्संदेह जीवनका प्रबल अंश है। हाँ, जालिमोंने जरूर ही हिंसाका दुरुपयोग किया है। परंतु हिंसाका जो लक्षण मैंने किया है उसमें तो उसका सदुपयोग कल्पनातीत है। इससे पहलेवाले सवालके जवाबमें उसकी परिभाषा देखिये।

"पागलों' तथा भयंकर अपराधियोंको तो, जो समाजको हानि पहुँचाते हैं, आप जेलमे भेजेंगे। तो क्या आप हमें सभ्य अपराधियोंको, जो सरकारी अफसरोंके रूपमें काम कर रहे हैं, मारनेके बजाय गिरफ्तार करने तथा हिमालयकी किसी गुहामें ले जाकर कैद करनेकी इजाजत देंगे ?"

मैं नहीं कह सकता कि पागलों और मुजरिमोंको, फिर वे भयंकर हों या नहीं, जेलमें रखना अर्थात् सजा देना ठीक है। पागल तो अब भी इस तरह नहीं रखे जाते हैं। पर हम तेजीसे उस समयके नजदीक पहुँच रहे हैं जब मुजरिमोंको भी सजाके लिए नहीं बल्कि सुधारके लिए संयममें रखना पड़े। पर हाँ, मैं खुशीसे उस संघमें शामिल होऊँगा जो, जानमें या अनजानमें, भारतका खून चूसनेवाले वायसराय, हर एक सिविलियन अंग्रेज अथवा हिंदुस्तानीको जेल भेजनेके लिए कायम होगा; पर शर्त्त यह कि एक तो उसमें उनके आरामकी पूरी गुंजाइश रहे, दूसरे ऐसी तजबीज मेरे सामने पेश हो, जो हर तरह काममें आने लायक हो। और मैं तो उस अवस्थामें भी उसमें शरीक होनेके लिए तैयार हूँ जब बंदीवास मेरे हिंसाके लक्षणमें भी आ जाता हो।

"कौन-सी बात अधिक अमानुषिक और भयंकर है ? बल्कि कौन अधिक हिंसात्मक है ? ३३ करोड़ आदमियोंको तकलीफ होने दें, लड़ और मिट जाने दें या कुछ हजार लोगोंका वध होने दें ? आप किस बातको ज्यादः अच्छा समझेंगे ? अधःपात होते होते ३३ करोड़ जनताका धीरे-धीरे विलयको प्राप्त हो जाना या कुछ सौ लोगोंका संहार हो जाना ? हाँ, यह जरूर साबित करना होगा कि कुछ सौ लोगोंके वधसे ३३ करोड़का अधःपात रुक जायगा। पर तब यह तफसीलका सवाल रहेगा, सिद्धांतका नहीं। यह कार्य-साधक है या नहीं, इसकी चर्चा फिर करेंगे। पर अगर यह साबित हो जाय कि कुछ लोगोंके संहारसे ३३ करोड़ लोगोंका अधःपात रोक सकते हैं, तो क्या आप हिंसापर सिद्धांतकी दृष्टिसे एतराज करेंगे ?"

कोई सिद्धांत सिद्धांत नहीं है यदि वह सब तरह अच्छा न हो। मैं अहिंसाकी दुहाई इसलिए देता हूँ कि मैं जानता हूँ अकेले उसीके बलपर मनुष्य-जाति सर्वश्रेष्ठ श्रेयको पहुँचती है—अगले जन्ममें ही नहीं इस जन्ममें भी। मैं हिंसापर आक्षेप इसलिए करता हूँ कि जब उससे हित होता हुआ दिखायी देता है तब तो वह अस्थायी होता है, पर उससे जो बुराई होती है वह स्थायी होती है। मैं नहीं मानता कि एक भी अंगरेजका खून करनेसे भारतवर्षका जरा भी लाभ होगा। यदि किसी एक शख्सने तमाम अंगरेजोंको कल ही मार डालना संभव बना लिया तो लाखों लोग, आजकी तरह ही, उससे दूर रहेंगे। मौजूदा हालतके लिए अंगरेजोंकी बनिस्बत हमारी जिम्मेदारी ज्यादः है। यदि हम सिर्फ अच्छा ही अच्छा करते रहें तो अंगरेज बुरा करनेके लिए अशक्त हो जायँगे। इसीलिए मैं आंतरिक सुधारपर इतना जोर दे रहा हूँ।

परंतु क्रांतिकारीके सामने तो मैंने अहिंसाको नीतिके सर्वोच्च आधारपर पेश नहीं किया है बल्कि कार्य-साधकताकी नीची बिनापर किया है। मैं कहता हूँ कि क्रांतिकारी तरीके भारतवर्षमें सफल नहीं हो सकते। यदि खुल्लमखुल्ला लड़ाई मुमकिन हो तो मैं शायद मान सकूँ कि हम हिंसा-पथको ग्रहण करें जैसा दूसरे देशोंने किया है, और कमसे कम उन्हीं गुणोंको प्राप्त करें जो रण-क्षेत्रमें जानेसे उदय होते हैं। पर युद्ध-कांडके द्वारा भारतके स्वराज्यकी प्राप्तिको तो, हम जहाँतक नजर पहुँचती है, किसी समयमें असंभव देखते हैं। युद्धके द्वारा चाहे हमें अंगरेजी शासनकी जगह दूसरा शासन मिल जाय, पर आत्म-शासन—जनताकी दृष्टिसे आत्म-शासन नहीं। स्वराज्यकी तीर्थ-यात्रा बड़ी कठिन, बड़ी कष्टप्रद चढ़ाई है। उसके मानी है देहातियोंकी सेवा करनेके ही उद्देश्यसे देहातमें प्रवेश करना—दूसरे शब्दोंमें इसका अर्थ है राष्ट्रीय शिक्षा—जनताकी शिक्षा। इसका अर्थ है, जनताके अन्दर राष्ट्रीय चैतन्य और जागृति उत्पन्न करना। वह कोई जादूगरके आमकी तरह अचानक नहीं टपक पड़ेगा। वह तो वट-वृक्षकी तरह प्रायः बे-मालूम बढ़ेगा। खूनी क्रांति कभी चमत्कार नहीं दिखा सकती। इस मामलेमें जल्दी मचाना निःसंदेह बरबादी करना है। चरखेकी क्रांति ही, जहाँतक कल्पना दौड़ती है, सबसे द्रुत क्रांति है।

"जब जीवनके परम स्वार्थका सवाल खड़ा होता है तब क्या तर्क और युक्तिको ताकपर नहीं रख दिया जाता है? क्या यह वस्तुस्थिति नहीं है कि कुछ स्वार्थी, जालिम और आग्रही लोग तर्क और युक्तिकी बात नहीं सुनते हैं और हुकूमत करते तथा सताते रहते हैं और एक जन-समाजके साथ अन्याय करते रहते हैं। आग्रही कौरवों तथा पाण्डवोंमें शांतिपूर्वक मेल करानेमें भगवान् श्रीकृष्ण भी सफल न हो सके, महाभारत चाहे उपन्यास न हो, बेचारा कृष्ण चाहे आध्यात्मिकतामें बढ़ा-चढ़ा न हो; पर खुद आप भी तो अपने उन न्यायाधीशको इस्तीफा देनेके लिए समझा न सके। हालां कि औरोंकी तरह वह भी आपको निरपराध मानता था। ऐसी बातोंमें आत्म-यज्ञके द्वारा समझानेसे कहाँतक सफलता मिल सकती है?"

यह बात दुःखपूर्ण, पर सच है, कि जहाँ स्वार्थका सम्बन्ध आता है, तर्क और युक्ति लोग ताकपर रख देते हैं। जालिम, हाँ बेशक, बड़ा आग्रही होता है। अंग्रेज जालिमको तो आग्रहका अवतार ही समझिये। पर वह सहस्रमुखी राक्षस है। वह नहीं चाहता कि मेरा वध हो। उसीके शस्त्रोंसे वह परास्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि हमारे पास उसने कोई शस्त्र रहने ही नहीं दिया है। मेरे पास एक हथियार है, जो उसके कारखानेमें नहीं बनता और वह उसे हरण भी नहीं कर सकता। उसने अबतक जितने शस्त्रास्त्र पैदा किए हैं उनसे वह बढ़कर है। वह क्या है? अहिंसा और चरखा है उसका प्रतीक, इसीलिए मैंने उसे देशके सम्मुख पूरे विश्वासके साथ उपस्थित किया है। कृष्ण जो कुछ करना चाहते थे उसमें, महाभारतकार कहते हैं, वे असफल न हुए। वे सर्वशक्तिमान् थे।

उन्हें अपने उच्च पदसे उतारकर घसीटना फजूल है। पर यदि उनके विषयमें हम उन्हें निरा मर्त्य मनुष्य समझकर, विचार करें तो उनका पलड़ा ऊँचा उठ जायगा और उन्हें पीछेकी तरफ आसन मिलेगा। महाभारत, जैसा आमतौरपर कहते हैं, न तो उपन्यास है और न इतिहास है। वह मानव-आत्माका इतिहास है, जिसमें ईश्वर कृष्णके रूपमें मुख्यपात्र—नायक है। उस महाकाव्यमें ऐसी कितनी ही बातें हैं जिन्हें मेरी अल्प-बुद्धि अवगाहन नहीं कर पाती। उसमें कितनी बातें ऐसी हैं जो स्पष्टत: क्षेपक हैं। वह चुना हुआ खजाना नहीं है। वह तो एक खान है, जिसके खोदनेकी जरूरत है, जिसमें गहरे पैठनेकी जरूरत है, तब कंकड़-पत्थर निकालनेपर हीरे हाथ आते हैं। इसलिए मैं व्रतधारी क्रांतिवादियों, या उसके उम्मीदवारों अथवा उनके किनारे खड़े मित्रोंसे आग्रह करता हूँ कि वे अपना पैर पृथिवी मातापर ही जमा रखें और हिमालयके शिखरोंपर उड़ानें न मारें, जहाँ कवि अर्जुन तथा दूसरे वीरोंको ले गये हैं। हर हालतमें मैं तो उसपर चढ़नेकी कोशिश करनेसे भी इन्कार करूँगा। मेरे लिए भारतवर्षका मैदान ही काफी है।

अच्छा तो अब मैदानमें उतरकर, प्रश्नकर्त्ता इस बातको समझ लें कि मैं अदालत इसलिए नहीं गया था कि मैं न्यायाधीशको समझाऊँ कि मैं निरपराध हूँ; बल्कि मैं गया था अपनेको पूरा अपराधी कुबूल करनेके लिए, ज्यादहसे ज्यादह सजा माँगनेके लिए। क्योंकि मैंने तो जान-बूझकर मनुष्य-कृत कानून तोड़ा था। न्यायाधीश मुझे निरपराध नहीं मान सकता था नहीं माना भी। जेल जानेमें कोई ज्यादह कुरबानी न थी। सच्ची कुरबानीका लोहा इससे कहीं मजबूत होता है। मेरे ये मित्र अहिंसाके फलितार्थको समझ लें। यह मतान्तरकी एक विधि है। मुझे इस बातका यकीन हो चुका है और यह कहनेके लिए क्षमा किया जाऊँ, कि मेरी दृढ अटल अहिंसाने हिंसाकी कितनी ही धमकियों और कृतियोंकी अपेक्षा ज्यादह अंगरेजोंको अपने विचारका कायल किया है। मैं कहता हूं कि जिस दिन ज्ञानयुक्त अहिंसा भारतमें आम चीज हो जायगी, स्वराज्य हमारे सामने होगा।

हिन्दी नवजीवन
२१ मई, १९२५

*'मैं तो आत्माकी अमरतापर विश्वास करता हूं। जीवनके सागरमें हम सब बिंदुमात्र हैं और जीवनकी वास्तविकता ही सत्य है—आत्मा है—परमात्मा है।'*

*—गांधीजी*

# मेरा कर्त्तव्य

एक सज्जन लिखते हैं—

"आप मनुष्योंके प्रति तो अपना फर्ज अदाकर रहे हैं। लेकिन क्या आप यह नहीं देख सकते आज आप जिस प्रांतमें भ्रमण कर रहे हैं उसमें पशु और दूसरे जीव-जन्तुओंके प्रति भी आपका कुछ कर्त्तव्य है? बंगालमे जीवोंकी हिंसा बेहद होती है। इस विषयमें यदि आप गहरे उतरेंगे तो आपको यह भूमि अनार्य-सी प्रतीत होगी। जब आप गुजरातमें भ्रमण कर रहे थे उस समय मैंने यह पढ़ा था कि बैलोंको आर भोंककर चलते हुए देखकर आप गाड़ीसे नीचे उतर गये थे। तो क्या आप बंगालमें छुरी चलानेवालोंको कुछ भी उपदेश न देंगे? आपके उपदेशसे बहुत लाभ होगा। इस कार्यके लिए आपको अलग समय न देना होगा। बल्कि इससे एक पंथ और दो काज होंगे।"

एक तो लेखकने इस प्रकार लिखनेमें वैसी सामान्य भूल की है जैसी बहुतसे मनुष्य करते हैं। यह मानना कि उपदेश करनेसे इसका बहुत बड़ा परिणाम होगा, हमारा मोह है, और यह इसमें भी दिखायी दे रहा है। अनन्तकालसे यही अनुभव हो रहा है कि उपदेशका परिणाम बहुत ही अल्प होता है। सैकड़ों साधु आज उपदेश कर रहे हैं। सैकड़ों ब्राह्मण नित्य गीता भागवतादिका पाठ कर रहे हैं। लेकिन यह कहा जा सकता है कि उसका कुछ भी असर नहीं होता है। हाँ, किसी किसी उपदेशकका कुछ असर होता हुआ हम देखते अवश्य हैं लेकिन वह असर उसके उपदेशका नहीं होता बल्कि वह उसके कार्यका होता है। और जितना आचरण वह कर सकता है उससे अधिक वह उपदेश करे तो उसका कुछ भी असर नहीं होता। यह सत्यकी खूबी है। उसे भाषाके आच्छादनसे कितना ही ढाँकिए वह नहीं ढक सकता। यदि हिमालयपर चढ़नेकी मेरी शक्ति नहीं है और फिर भी मैं हिमालयपर चढ़नेके लिए दूसरोंको उपदेश दूँ तो उसका कुछ भी असर न होगा लेकिन यदि चुपचाप उसपर चढ़कर उन्हें दिखाऊँ तो मेरे पीछे सैकड़ों लोग उसपर चढ़ जायेंगे। मनुष्यकी करनी ही सच्चा उपदेश है।

दूसरे, मनुष्यमें उपदेश करनेकी योग्यता भी चाहिये। मैं पशु-हिंसा नहीं करता हूँ। फिर भी मुझे यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि पशु-हिंसा रोकनेकी योग्यता मुझमें नहीं है। मैं यह जानता हूँ कि पशुओंके प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है। लेकिन दूसरोंको उसे बतानेमें मैं असमर्थ हूँ। उसके लिए तो मुझमें बहुत अधिक पवित्रता, बहुत अधिक दयाभाव और बहुत ही अधिक संयम होना चाहिये। उसके बगैर मुझे बहुत सूक्ष्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। और उस ज्ञानके बिना मुझे आवश्यक भाषा भी प्राप्त नहीं हो सकती।

बिना ऐसा ज्ञान-प्राप्त किये आत्म-विश्वास नहीं होता। पशु-हिंसाका त्याग करनेकी मुझमें शक्ति है, यह आत्मविश्वास मुझे नहीं है। लेकिन मैं तो ईश्वरको माननेवाला हूँ। पशु-सेवाकी वृत्ति मुझमें बड़ी तीव्र है। मनुष्य तो अपना दुःख बता सकता है और उसे दूर करनेका प्रयत्न भी कर सकता है। पशुओंमें यह शक्ति नहीं। इसलिए उनके प्रति हमारा दुहरा फर्ज है। लेकिन यह सब जाननेपर भी उसके लिए शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हुए भी, मुझे उनकी सेवा करनेकी शक्ति न होनेके कारण बड़ी लज्जा मालूम होती है। उसके लिए मैं ईश्वरको दोष देता हूँ। उसने मुझे शक्ति क्यों नहीं दी? इसके लिए मैं उसके साथ हमेशा झगड़ा करता हूँ और हमेशा उससे प्रार्थना भी करता हूँ। लेकिन ईश्वर तो स्वेच्छाचारी है। वह किसीका भी कहना नहीं सुनता है तो मेरी क्यों सुनने लगा? ऐसा भले ही हो कि वह मेरी बात औरोंसे जल्दी सुन ले। लेकिन जब वह मुझे शक्ति देगा तब मैं, इन सज्जनको विश्वास दिलाता हूं कि, उनके कहनेकी राह नहीं देखूँगा। दरम्यान मेरी तपश्चर्या तो बराबर जारी ही रहेगी। जिस कार्यमें आज मैं मशगूल हो रहा हूं, उससे भी अधिक, पशुमात्रकी सेवा करनेकी शक्ति, मुझे क्यों न प्राप्त हो? मेरा विश्वास है कि मैं कंजूस नहीं हूँ। मैं अपनी सब शक्तियोंको कृष्णार्पण कर चुका हूं। इसलिए यदि मुझे पशु-हिंसा रोकनेकी शक्ति प्राप्त होगी तो मैं उसे भी संग्रह करके न रखूंगा।

लेकिन इस दरम्यान जो अपरिहार्य है उसे तो सहन ही करना चाहिए। इस संसारमें तो अनेक स्थानोंपर निर्दोष मनुष्योंपर जुल्म हो रहे हैं, उन्हें रोकनेका हम कहाँ दावा करते हैं? यह हमारी शक्तिके बाहर है यह मानकर, और जगत्का कल्याण चाहते हुए हम चुप रहते हैं। अशक्तिके कारण ही स्वदेशाभिमानको हम एक अलग गुण मानकर उसे बढ़ा रहे हैं। लेकिन जो स्वदेशाभिमान धार्मिक है उससे जगतका अकल्याण नहीं होता। संसारका अकल्याण करते हुए अपने देशका भला करना मिथ्या स्वदेशाभिमान है। स्वदेशकी धार्मिक सेवामें जिस प्रकार संसार भरकी सेवाका समावेश हो जाता है उसी प्रकार मेरी मनुष्य-सेवामें वैसी पशु-सेवा और पशु-सेवामें कोई विरोध नहीं है।

आज हमारे देशमें एक प्रकारका धर्माडंबर फैला हुआ है। जो काम हम लोगोंसे नहीं हो सकते या जिस कामके करनेका कुछ अर्थ नहीं, ऐसे दयाके केवल दिखाऊ काम हम करते हैं और जो दयाके कार्य हम कर सकते हैं उन्हें नहीं करते। धीरा भगतकी भाषामें कहें तो हमलोग निहाईकी चोरी करते हैं और सूईका दान करनेका ढोंग करते हैं। गीताकी भाषामें कहें तो स्वधर्मका, जो हमारे लिए सुलभ है, थोड़ासा भी पालन करना छोड़कर हम परधर्मके पालनके बड़े बड़े विचार करते हैं और 'इतोभ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जाते हैं। ऐसी भूलोंसे हमें बच जाना चाहिए। यह कहनेके लिए ही मैंने पूर्वोक्त सूचनाका जवाब देना और पशु-हिंसा रोकनेके

श्रेष्ठ-धर्मके पालन करनेके कार्यको मैं क्यों नहीं करता हूँ यह दिखानेका प्रयत्न करना उचित समझा है।

हमलोग जगतके कर्ता नहीं हैं। हमलोग सर्वशक्तिमान भी नहीं हैं। हम-लोगोंमें शक्ति है उसका यदि हम सदुपयोग करें तो वह शक्ति आप ही बढ़ेगी और इस प्रकार इस शक्तिके बढ़नेपर यदि हम प्रामाणिक होंगे तो उसका हम अवश्य ही उपयोग करेंगे।

हिन्दी नवजीवन
१८ जून, १९२५

*"पराजयसे सत्याग्रह और अहिंसाको निराशा नहीं होती, उससे तो कार्य क्षमता और लगन बढ़ती है और सत्यसे बुद्धि परिष्कृत होकर उसका दर्शन करती है।"*

—गांधी जी

# अहिंसाकी समस्या

ऐसे प्रश्न मुझसे बराबर पूछे जाते हैं कि कब अहिंसाका और कब हिंसाका अवलम्बन करना चाहिये और किस समय क्या कर्त्तव्य है। कितने सवाल तो ऐसे हैं जिनसे पूछनेवालेका अज्ञान प्रकट होता है। और कुछ ऐसे भी होते हैं जिनसे उनके संकटका परिचय मिलता है। एक पंजाबीने प्रश्न पूछा है। उसका उत्तर लिखने योग्य है। वह इस प्रकार है—

"शेर, भालू इत्यादि आकर पशु और मनुष्यको उठा ले जायँ तो क्या करें? अथवा पानीमें जन्तु इत्यादि हों तो क्या करें?"

मेरी अल्पमतिके अनुसार मामूली जवाब तो यही है कि जब शेर, भालू इत्यादिका उपद्रव हो तब उसका नाश अनिवार्य है। पानीमें रहनेवाले जन्तुओंका नाश अनिवार्य है। अनिवार्य हिंसा हिंसा न रहकर अहिंसा नहीं हो जाती। हिंसाको हिंसाके रूपमें ही जानना चाहिये। मुझे इस बातमें कोई शक नहीं है कि यदि कोई शेर-भालूका नाश किये बिना अपना काम चला ले तो वह उत्तम है, पर यह करेगा कौन? वही जो शेर-भालूसे डरता नहीं, बल्कि मित्रकी तरह उनसे मिल सकता हो। डरकर जो हिंसा नहीं करता वह तो हिंसा कर ही चुका है। चूहा बिल्लीके प्रति अहिंसक नहीं है। उसका मन तो निरंतर बिल्लीकी हिंसा करता है। निर्बल होनेके कारण वह बिल्लीको मार नहीं सकता। हिंसा करनेका पूरा सामर्थ्य रखते हुए भी जो हिंसा नहीं करता है वही अहिंसा-धर्म पालन करनेमें समर्थ हो सकता है। जो मनुष्य स्वेच्छासे और प्रेमभावसे किसीकी हिंसा नहीं करता वही अहिंसा-धर्मका पालन करता है। अहिंसाका अर्थ है प्रेम, दया, क्षमा। शास्त्र उसका वर्णन वीरके गुणके रूपमें करते हैं। यह वीरता शरीरकी नहीं, बल्कि हृदयकी। शरीरसे क्षीण पुरुष भी औरोंकी मददसे घोर हिंसा करते हुए देखे गये हैं। शरीरसे बलवान् होते हुए भी युधिष्ठिर, विराटराज जैसोंको क्षमा करते हुए देखे गये हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जबतक हृदयका बल प्राप्त नहीं होता तबतक मनुष्य अहिंसा-धर्मका पालन नहीं कर सकता। आजकलकी चणिक अहिंसा अहिंसा नहीं। इसमें तो बहुत बार घोर निर्दयता दिखायी देती है और अज्ञान तो उसमें अवश्य ही है।

हमारी इस दुर्बलताको मैं जानता हूँ। इसीलिए मैंने खेड़ामें महायुद्धके समय स्वयंसेवक सिपाहियोंको भरती करनेका महाप्रयत्न किया था और इसीसे मैंने उस समय कहा था कि ब्रिटिश सल्तनतने जो अनेक घोर कृत्य किए हैं उनमें उसका एक अतिघोर कृत्य यह है कि उसने लोगोंको निःशस्त्र करके निर्वीर्य बना

दिया है। आज भी मेरी वही दृष्टि है। जिसके मनमें भय मौजूद रहा है वह यदि निःशस्त्र रहकर भयको दूर नहीं कर सकता तो वह अवश्य लाठी या उससे भी जल्दी शस्त्रका अवलंबन करे।

अहिंसा एक महाव्रत है। तलवारकी धारपर चलनेसे भी कठिन है। देहधारीके लिए उसका सोलह आना पालन असंभव है। उसके पालनके लिए घोर तपश्चर्याकी आवश्यकता है। तपश्चर्याका अर्थ यहाँ त्याग और ज्ञान करना चाहिए। जिसे जमीनकी मालिकीका मोह है उससे अहिंसाका पालन नहीं हो सकता। किसानके लिए अपनी जमीनकी रक्षा शेर भालूसे करना लाजिमी है, उसकी रक्षा करनी ही पड़ेगी। जो किसान शेर, भालू अथवा चोर इत्यादिको दंड देनेके लिए तैयार न हो उसे खेत छोड़ देनके लिए हमेशा तैयार रहना पड़ेगा।

अहिंसा धर्मका पालन करनेके लिए मनुष्यको शास्त्र तथा रिवाजकी मर्यादाका पालन करना चाहिये। शास्त्र हिंसाकी आज्ञा नहीं देता; परंतु प्रसंग-विशेषपर हिंसा-विशेषको अनिवार्य समझकर उसकी छुट्टी देता है। जैसा कहते हैं मनुस्मृतिमें प्राणि-विशेषके वधकी इजाजत है। वधकी आज्ञा नहीं है। उसके बाद विचारमें उन्नति हुई और यह तय हुआ कि कलिकालमें अपवाद न रहे। इसलिए वर्तमान रिवाज हिंसा-विशेषको क्षंतव्य मानता है और मनुस्मृतिकी कितनी ही हिंसाका प्रतिबंध करता है। शास्त्रने इतनी छूट रक्खी है। उससे आगे बढ़नेकी दलील स्पष्टतः गलत है। धर्म संयममें है, स्वच्छन्दतामें नहीं। जो मनुष्य शास्त्रकी दी हुई छूटसे लाभ नहीं उठाता वह धन्यवादका पात्र है। संयमकी कोई मर्यादा नहीं। संयमका स्वागत दुनियाके तमाम शास्त्र करते हैं। स्वच्छन्दताके विषयमें शास्त्रोंमें भारी मतभेद है। समकोण सब जगह एक ही प्रकार होता है। दूसरे कोण अगणित हैं। अहिंसा और सत्य ये सब धर्मोंके समकोण हैं। जो आचार इस कसौटीपर न उतरे वह त्याज्य है। इसमें किसीको शंका करनेकी आवश्यकता नहीं। अधूरे आचारकी इजाजत चाहे हो। अहिंसा-धर्मका पालन करनेवाला निरंतर जागरुक रहकर अपने हृदय-बलको बढ़ावे और प्राप्त छूटोंके क्षेत्रको संकुचित करता जाय। भोग हरगिज धर्म नहीं। संसारका ज्ञानमय त्याग ही मोक्ष-प्राप्ति है। संसारका सर्वथा त्याग हिमालयके शिखरपर भी नहीं है। हृदयकी गुफा, सच्ची गुफा है। मनुष्यको चाहिये वह उसमें छिपकर सुरक्षित रहकर संसारमें रहते हुए भी उससे अलिप्त रहकर अनिवार्य कामोंमें प्रवृत्त होते हुए विचरण करे।

हिन्दी नवजीवन

२० अगस्त, १९२५



अहिंसाका यह पुजारी सदैव सजग और सतर्क रहा, जहाँ हिंसा और अमानवीयताका ताण्डव हुआ यह युग-पुरुष नंगे पैर ही उस ओर शान्तिका सन्देश देने चल पड़ा



नोआखालीमें
सत्य और अहिंसाके देवदूत गांधीजी एक दीन हीन दुखियाकी
कष्ट-गाथा सुनकर उसे अभय दान कर रहे हैं

# ब्रिटिश सिंहका क्या ?

सुदूर केलिफोर्निया ( अमेरिका ) से एक पत्र मिला है—

"केनेडी अपनी पशुशालामें बैठा हुआ था और संयोगसे उसने अपने आँगनमें नजर डाली। उसकी चार बरसकी पौत्री खेल रही थी। उसने देखा कि एक पहाड़ी सिंह उसकी ओर चुपकेसे चला आ रहा है। केनेडी अपनी रायफल लेने झपटा और ज्यों ही सिंह लड़कीपर चोट करनेवाला था उसने खिड़कीसे निशाना ताककर गोली मार दी। गोली उसके कलेजेको पार कर गयी।"

अब उस बच्चेके पिताकी इस कारवाईपर अपनी राय दीजिये और नीचे लिखे सवालोंका जवाब दीजिये—

"उसका सिंहको मारना ठीक था? क्या उस पिताको अहिंसात्मक रहकर सिंहको बच्चेको फाड़ डालने देना चाहिये था? क्या पिताको सिंहसे प्रार्थना करते रहना चाहिये था? और इस तरहसे अपने बच्चेकी जानको खतरेमें डालना चाहिये था? क्या पिताके लिए यह शक्य था कि वह अपने बच्चेको बचानेके लिए दया प्रार्थना करता? क्या आप ब्रिटिश सिंहकी आत्माकी इसी तरह प्रार्थना करते रहेंगे और उसे लाखों भारतवासियोंको फाड़ खाने देंगे?"

पहले प्रश्नका उत्तर यह है कि पिताका सिंहको मार डालना ठीक था। दूसरे सवालोंको पूछकर लेखकने अपने अहिंसा तथा उसकी कार्य-रीति विषयक अज्ञानका परिचय दिया है। अहिंसा एक मानसिक या बौद्धिक अवस्था उतनी नहीं है जितनीकी हृदयका, आत्माका गुण है। यदि केनेडीको सिंहका भय न होता—निर्भयता अहिंसाकी पहली और अनिवार्य शर्त है—यदि उसका हृदय इस बातको कुबूल करता कि सिंहको भी ऐसी आत्मा है जैसी खुद मुझे है तो बंदूक लेकर दौड़ने और जबतक वह बंदूक लेकर वापस न आ जाय और वह अचूक निशाना न मार दे, तबतक सिंहके इन्तजार करनेके संशयास्पद संयोगपर दारोमदार न रखते हुए उसे सीधा सिंहकी ओर दौड़कर उसके गलेमें बाँह डालकर पूरे विश्वासके साथ उसकी अंतरात्माकी प्रेरणा करके अपने बच्चेको बचा लेना चाहिये था। यह बात बिल्कुल सच है कि अहिंसाकी इस स्थितिपर पहुंचना बहुत ही थोड़े लोगोंके लिए शक्य है। इसलिए मनुष्य-जाति आम तौरपर हमेशा सिंह और शेरको मारकर अपने बच्चे और पशुओंकी रक्षा करती रहेगी। पर इससे मूल-सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं पड़ती। साधु-सन्तोंका जंगलमें निःशस्त्र रहना और किसी भी जंगली पशुको दुःख न पहुंचाये बिना रहना, यह चमत्कार हिन्दुस्तानमें अज्ञात नहीं है। पश्चिममें भी इस बातके ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। लेखकने

वीर पुरुषोंके सम्बंधमें भी एक अकल्प्य कल्पना करनेकी भूल की है। यदि केनेडी यों ही खड़ा-खड़ा देखता रहता और उसके बच्चेको सिंह फाड़कर खा जाता तो यह किसी सूरत या शकलमें अहिंसा न होती। बल्कि निरी हृदयहीन कायरता होती, जो अहिंसाके विपरीत है। लेखकका आखिरी प्रश्न ही ऐसा है जो इस पत्रके उद्देश तक ले जाता है। उसमें लेखकने हमारे जमानेके इतिहासके प्रति घोर अज्ञान प्रकट किया है। उनको जानना चाहिये कि जिस आन्दोलनके लिए मैं जिम्मेवार हुआ हूँ वह इस तरहकी प्रार्थना नहीं है जैसा लेखकका खयाल है। इस आन्दोलनके द्वारा हम ब्रिटिश सिंहकी आत्मा तक नहीं, बल्कि भारतवर्षकी आत्मा तक पहुंचते हैं, इसलिए कि वह उसको प्राप्त कर ले। यह आन्तरिक शक्तिको विकसित करनेका आन्दोलन है। इसलिए अपने अंतिम रूपमें यह निःसन्देह ब्रिटिश सिंहकी आत्मा तक पहुंचेगा। परन्तु उस अवस्थामें वह एक समान स्थितिवालेकी एक समान स्थितिवालेको प्रार्थना होगी। एक भिखारीकी उस दाताको नहीं जो शायद कुछ दे दे। अथवा एक बौनेकी एक राक्षससे अपनी रक्षा करनेको व्यर्थ याचना नहीं। उस अवस्थामें एक आत्माके प्रति दूसरी आत्माकी ऐसी जोरदार प्रार्थना होगी कि उसे कोई रोक न सकेगा। हाँ इसमें कोई सन्देह नहीं कि जबतक हमारी आंतरिक शक्तिका विकास हम कर रहे हैं तबतक सिंहकी हमें फाड़ डालनेकी अनिवार्य क्रिया जारी ही रहेगी। पर वह उस अवस्थामें भी बंद नहीं हो सकती जब भारतवर्ष केनेडीकी तरह बदूक लेकर दौड़ पड़ेगा। परन्तु केनेडी तो लेने गया था उस बंदूकको जो उसके पास थी और जिसे वह चलाना जानता था, परन्तु हिन्दुस्तानी केनेडी, केलिफोर्नियन केनेडीके विपरीत बिना ही आवश्यक शस्त्रास्त्र या उसको चलानेकी विद्याके ब्रिटिश सिंहको मारनेकी कोशिश करेगा! मेरे तरीकेमें ब्रिटिश-सिंहको नष्ट करनेकी ही नहीं, बल्कि उसके स्वभावको बदल देनेकी संभावना है। इसके अलावा केनेडीकी विधिके अनुसार भारतवर्षको अपने अन्दर उन्हीं गुणोंको उदय करना होगा जिन्हें हम आज ब्रिटिश सिंहके अन्दर शोचनीय मानते हैं! अन्तमें तीसरा रास्ता जिसे लेखक न केवल संभव ही मानते हैं बल्कि इस विधिका स्थान उसे देना चाहते हैं। भारतवर्षके संबंधमें मुतलक उत्पन्न नहीं होता। जैसा वह केलिफोनियाके संबधमें भी उत्पन्न नहीं होता। भारतके पास अपनी आजादीके सिर्फ दो रास्ते हैं। या तो अपनी आजादीके लिए और उस दर्जे तक, सिर्फ अहिंसात्मक साधनोंका अवलम्बन करें, या हिंसाके पश्चिमी साधनोंको तथा उससे जो जो बातें गृहीत होती हैं, उन सबको बढ़ानेका प्रयत्न करें।

हिन्दी नवजीवन

२४ सितम्बर १९४८

❋

# खेतीमें हिंसा ?

'नवजीवन' के एक निरन्तर पाठक पूछते हैं—

"मैंने नवजीवन, (पुराने) में पढ़ा है कि खेती शुद्ध यज्ञ है, यह सच्चा परोपकार है।"

"चींटी जैसे छोटे जीवके पैर तले रुँध जानेसे मनमें दुःख होता है। खेती करनेवाला किसान तो ऐसे अनेक असंख्य जीवोंको अपनी आँखोंके सामने मरते हुए देखता है। इससे उसके मनमें 'यों तो बहुतेरे जीव मरा करते हैं', यह मानते हुए क्या निष्ठुरता नहीं आ जायगी?"

"जिसे चींटी जैसे कीड़ेको भी मरता देखकर दुःख होता है वह खेती कैसे कर सकता है? वह यदि भीख माँगकर पेट भरता हो तो क्या बुरा? अथवा कोई और धन्धा क्यों न करे? पर आप तो भीखको हीनसे हीन समझते हैं? मैं अनुभवसे इस बातको मानता हूँ।"

"मुझे खेती करनेकी बड़ी चाह है; पर पूर्वोक्त प्रकारकी जीव-हिंसा और बैलको आर लगानेसे डरता हूँ।"

यह बात सच है कि खेतीमें सूक्ष्म जीवोंकी अपार हिंसा है। पर दूसरा वाक्य भी इतना ही सच है। वह यह कि शरीर-निर्वाहमें श्वासोच्छ्वास करनेमें भी सूक्ष्म जन्तुओंकी हिंसा है। परन्तु जिस प्रकार आत्म-घात करनेसे शरीर-रूपी पिंजरका सर्वथा नाश नहीं होता उसी प्रकार खेतीके त्यागसे खेतीका भी नाश नहीं होता। मनुष्य मिट्टीका पुतला है। मिट्टीसे उसका शरीर पैदा हुआ है और मिट्टीके पर्यायोंपर उसका जीवन निर्भर है। खेतीमें रहनेवाले अन्नसे दूर रहनेके लिए जो भिक्षान्न खाता है वह दुहरा दोष-भागी होता है। खेती करनेका दोष तो वह करता ही है। क्योंकि भिक्षामें मिला अन्न किसी न किसी किसानकी मिहनतसे ही पैदा हुआ है। उस किसानकी खेतीमें भिक्षान्न भोजन करनेवालेका हिस्सा अवश्य आ जाता है। और दूसरा दोष है भिक्षान्न खानेवालेका अज्ञान और उससे उत्पन्न होनेवाला आलस्य।

यदि एक मनुष्यके लिए खेतीका त्याग उचित है तो अनेकके लिए भी है। अनेक लोग यदि भीख माँग खावें तो थोड़े किसान बिचारे भिखारियोंके लिए मजूरी करनेके बोझसे ही कुचल जावें और उसका पाप भिखारीके सिर नहीं तो और किसके सिर होगा?

खेती इत्यादि आवश्यक कर्म शरीर-व्यापारकी तरह अनिवार्य हिंसा

है। उसका हिंसापन चला नहीं जाता है और मनुष्य ज्ञान, भक्ति आदिके द्वारा अन्तमें इन अनिवार्य दोषोंसे मोक्ष प्राप्त करके इस हिंसासे भी मुक्त हो जाता है। इसलिए शरीर जिस प्रकार मनुष्यके लिए बंधनका द्वार है उसी प्रकार मोक्षका भी द्वार है। उसी तरह जो करोड़पति होनेके लिए खेती करता है उसके लिए खेती मुक्तिका द्वार हो सकती है।

कार्य-मात्र, प्रवृत्ति-मात्र, उद्योग-मात्र सदोष हैं। आवश्यक उद्यम-मात्रमें एक-सा दोष है। मोतीके रोजगारमें, रेशमके धन्धेमें, सुनारके पेशेमें खेतीसे बहुत अधिक दोष है। क्योंकि ये धन्धे आवश्यक नहीं हैं। उनमें हिंसा तो बहुतेरी हुई है। मोती हिंसा बिना मिल नहीं सकते। सीपका कीड़ा उबाला जाता है। सुनार जो आसमानी आग पैदा करता है उसमें जलनेवाले जन्तुओंसे यदि पूछें और वे जवाब दे सकें तो हमें उनके धन्धेकी हिंसाका कुछ खयाल हो सकता है।

चारों ओर हिंसासे घिरे और जलते हुए इस जगतमें विचरनेवाले जिस महापुरुषने अहिंसा-रूपी धर्म उत्पन्न किया उसको मेरा साष्टांग प्रणाम है।

चींटीको भी बचाकर चलना यह हमारा सहज धर्म है। जो मनुष्य ऊँचा सिर करके बिना विचारे, बिना देखे, अपने घमण्डमें मस्त चला जाता है और अपने पैरोंके नीचे कुचले जानेवाले असंख्य जीवोंका विचारतक नहीं करता वह तो जान-बूझकर अनावश्यक पाप कर्म करता है और अपने हाथों अपने लिए नरकका द्वार खोला करता है। उसकी तुलना किसानसे, जो उसके मुकाबले निर्दोष माने जाने चाहिये, हो ही नहीं सकती। खेती करनेवाले असंख्य किसान चलते हुए बारीक नजरसे चींटी आदि प्राणियोंको बचाते हैं। उनमें गर्व नहीं होता। वे नम्र हैं। वे जगतके पालनेवाले हैं। दुनियाका नव-दशांश भाग खेती करता है। उसीमें श्रेय है। खेती आवश्यक शुद्ध-यज्ञ है। श्रेष्ठ धर्मवान उस धन्धेको कर सकता है। और दूसरे अनावश्यक धर्मोंको छोड़कर खेती करे तो पुण्य है।

बैलको आर लगानेकी बात बिना विचारे लिखी गयी है। सब किसान बैलको आर नहीं मारते। कितने ही किसान बैल, इत्यादि अपने पशुओंको अपने कुटुम्बकी तरह मानते हैं और प्रेम-भावसे उसका पालन-पोषण करते हैं।

हिन्दी नवजीवन

२४ सितम्बर, १९२५

❀

# गीताका अर्थ

एक मित्र इस प्रकार प्रश्न करते हैं —

"गीताका संदेश क्या है? हिंसा या अहिंसा? मालूम होता है यह झगड़ा हमेशा ही चलता रहेगा। यह बात और है कि हम गीतामें किस संदेशको देखना चाहते हैं और उसमेंसे कौन-सा संदेश निकालना चाहते हैं और यह दूसरी ही बात है कि उसको सीधे ही पढ़नेपर क्या छाप पड़ती है। जिसके दिलमें यह बात जम गयी है कि अहिंसा-तत्व ही जीवन सन्देश है उसके लिए तो यह प्रश्न गौण है। वह तो यही कहेगा कि गीतामेंसे अहिंसा निकलती हो तो वह मुझे ग्राह्य है। इतने भव्य ग्रन्थमेंसे अहिंसा जैसा भव्य धार्मिक सिद्धान्त ही निकलना चाहिये। किन्तु यदि न निकलता हो तो गीताको भी रहने दीजिये। उसको आदरसे पूजेंगे लेकिन उसे प्रमाण-ग्रन्थ मानेंगे नहीं।

"प्रथम अध्यायको पढ़नेपर यही प्रतीत होता है कि अहिंसा वृत्तिसे प्रेरित अर्जुन अशक्त होकर कौरवोंके हाथों मरनेको तैयार है। हिंसासे होने वाले पाप और हानि उसकी दृष्टिमें स्पष्ट नजर आते हैं। विषादसे वह काँप उठता है—

'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।'

इसपर श्रीकृष्ण उसे कहते हैं—"समझदार होकर भी यह क्या बोलते हो? कोई किसीको न मारता है और न मरता ही है। आत्मा अमर है और शरीरका नाश तो होगा ही। इसलिए इस धर्मप्राप्त युद्धको लड़ लो। जय क्या और पराजय क्या? केवल अपना कर्तव्य पूरा करो।

"११ वें अध्यायमें भी उसे विश्वरूप दिखाकर भगवान श्रीकृष्ण यही कहते हैं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो—
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः।

ईश्वरकी दृष्टिमें हिंसा और अहिंसा दोनों समान ही है। लेकिन मनुष्यके लिए ईश्वरका संदेश क्या हो सकता है?

'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।'

यह क्या? गीताका संदेश यदि अहिंसा हो तो १ और ११ अध्याय सुसंबद्ध नहीं मालूम होते। वे उसके पोषक तो हैं ही नहीं। ऐसी शंकाओंका समाधान कौन करे?

"कामकी भीड़मेंसे कुछ समय निकाल कर आप इसका जवाब दें तो अच्छा हो"

ऐसे प्रश्न तो हुआ ही करेंगे और जिसने कुछ अध्ययन किया है उसे उनका यथाशक्ति जवाब भी देना होगा। किन्तु इनका समाधान करनेपर भी आखिर मुझे यह कहना ही पड़ेगा कि मनुष्य वही करेगा जो उसका हृदय उसे करनेको कहेगा। प्रथम हृदय है और फिर बुद्धि। प्रथम सिद्धान्त और फिर प्रमाण। प्रथम स्फुरण और फिर उसके अनुकूल तर्क। प्रथम कर्म और फिर बुद्धि। इसीलिए बुद्धि कर्मानुसारिणी कही गयी है। मनुष्य जो कुछ भी करता है या करना चाहता है उसका समर्थन करनेके लिए प्रमाण भी ढूँढ़ निकालता है।

इसलिए मैं यह समझता हूं कि मेरा गीताका अर्थ सबके अनुकूल न होगा। ऐसी स्थितिमें मैं यदि इतना ही कहूँ कि गीताके मेरे अर्थपर मैं किस तरह पहुंचा और धर्मशास्त्रोंके अर्थ निकालनेमें मैंने किन किन सिद्धान्तोंको मान्य रखा है तो यही बस होगा। "परिणाम चाहे कुछ आवे मुझे तो युद्ध करना चाहिये। जो शत्रु मरने योग्य हैं वे तो स्वयं ही मरे हुए हैं। मुझे तो उनके मारनेमें निमित्त मात्र बनना है।"

१८८९ की सालमें गीताजीसे मेरा प्रथम परिचय हुआ। उस समय मेरी उम्र २० सालकी थी। उस समय मैं अहिंसा धर्मको बहुत ही थोड़ा समझता था। शत्रुको भी प्रेमसे जीतना चाहिये यह मैं गुजराती कवि शामल भट्टके इस छप्पयसे "पाणी आपेने पाय भलुं भोजन तो दीजे" सीखा था। इसमें रहा हुआ सत्य मेरे हृदयमें अच्छी तरह बैठ गया था। किन्तु उस समय मुझे उसमेंसे जीवदयाका स्फुरण नहीं हुआ था। इसके पहले मैं देशमें ही मांसाहार कर चुका था। मैं मानता था कि सर्पादिका नाश करना धर्म है। मुझे तो याद आता है कि मैंने खटमल इत्यादि जीवोंको मारे हैं। मुझे तो यह भी याद आता है कि मैंने एक बिच्छूको भी मारा था। आज यह समझा हूं कि ऐसे जहरीले जीवोंको भी न मारना चाहिये। उस समय मैं यह मानता था कि हमें अंगरेजोंके साथ लड़नेके लिए तैयारी करनी होगी। 'अंगरेज राज्य करते हैं इसमें आश्चर्य ही क्या है' इस मतलबकी एक कविता गुनगुनाया करता था। मेरा मांसाहार इसी तैयारीका कारण था। विलायत जानेके पहले मेरे ऐसे विचार थे। मैं मांसाहारसे बच गया इसका कारण माताको दिये हुए वचनोंको जीवनांत पालन करनेकी मेरी वृत्ति थी। मेरे सत्यके प्रति प्रेमने बहुत सी आपत्तियोंमेंसे मेरी रक्षा की है।

अब दो अंगरेजोंसे प्रसंग पड़नेपर मुझे गीता पढ़नी पड़ी। 'पढ़नी पड़ी' इसलिए कहता हूँ क्योंकि उसे पढ़नेकी मुझे कोई खास इच्छा न थी लेकिन जब इन दो भाइयोंने मुझे अपने साथ गीता पढ़नेको कहा तब मैं शरमिन्दा हुआ। मुझे अपने धर्मशास्त्रोंका कुछ भी ज्ञान नहीं है इस खयालसे मुझे बड़ा दुःख हुआ। इस दुःखका कारण मालूम होता है अभिमान था। मेरा संस्कृतका अध्ययन ऐसा तो था ही नहीं कि गीताजीके सब श्लोकोंका अर्थ मैं बिना किसी मददके ठीक

ठीक समझ लूँ। ये दोनों भाई तो कुछ भी न समझते थे। उन्होंने सर एडविन आर्नल्डका गीताजीका उत्तमोत्तम काव्यानुवाद मेरे सामने रख दिया। मैंने तो फौरन ही उस पुस्तकको पढ़ डाला और उसपर मैं मुग्ध हो गया। तबसे लेकर आजतक दूसरे अध्यायके अन्तिम १९ श्लोक मेरे हृदयमें अंकित हैं। मेरे लिए तो सब धर्म उसीमें आ गया है। उसमें सम्पूर्ण ज्ञान है। उसमें कहे हुए सिद्धान्त अचल हैं। उसमें बुद्धिका भी सम्पूर्ण प्रयोग किया गया है। लेकिन यह बुद्धि संस्कारी बुद्धि है। उसमें अनुभव ज्ञान है।

इस परिचयके बाद मैंने बहुतसे अनुवाद पढ़े, बहुतसी टीकाएँ पढ़ीं, बहुतसे तर्क किये और सुने लेकिन उसे पढ़नेपर जो मुझपर छाप पड़ी थी वह दूर नहीं होती। ये श्लोक गीताजीके अर्थ समझनेकी कुंजी हैं। उससे विरोधी अर्थवाले वचन यदि मिलें तो उन्हें त्याग करनेकी भी मैं सलाह दूँगा। नम्र और विनयी मनुष्यको तो त्याग करनेकी भी जरूरत नहीं है। वह तो सिर्फ यों ही कह दे कि दूसरे श्लोकोंका आज इसके साथ मेल नहीं मिलता है तो यह मेरी बुद्धिका ही दोष है; समय बीतनेपर इनका और उन्नीस श्लोकोंमें कहे गये सिद्धान्तोंका भी मेल मिल रहेगा। अपने मनसे और दूसरोंसे यह कहकर वह शान्त हो रहेगा।

शास्त्रोंका अर्थ करनेमें संस्कार और अनुभवकी आवश्यकता है। 'शूद्रको वेदका अध्ययन करनेका अधिकार नहीं' यह वाक्य सर्वथा गलत नहीं है। शूद्र अर्थात् असंस्कारी, मूर्ख, अज्ञान, वे वेदादिका अध्ययन करके उनका अनर्थ करेंगे। बड़ी उम्रके भी सब लोग बीजगणितके कठिन प्रश्न अपने आप समझनेके अधिकारी नहीं हैं। उनको समझनेके पहले उन्हें कुछ प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। ब्रह्मचारीके मुखमें 'अहं ब्रह्मास्मि' क्या शोभा देगा? उसका वह क्या अर्थ (या अनर्थ) करेगा?

अर्थात् शास्त्रका अर्थ करनेवाला यमादिका पालन करनेवाला होना चाहिये। यमादिका शुष्कपालन जैसा कठिन है वैसा निरर्थक भी है। शास्त्रोंने गुरुका होना आवश्यक माना है लेकिन ज्ञानी लोग इसलिए भक्ति-प्रधान प्राकृत ग्रन्थोंका पठन-पाठन करनेकी शिक्षा देते हैं। किन्तु जिसमें भक्ति नहीं, श्रद्धा नहीं, वह शास्त्रका अर्थ करनेका अधिकारी नहीं होता। विद्वान लोग विद्वत्तापूर्ण अर्थ उसमें भले ही निकालें लेकिन वह शास्त्रार्थ नहीं। शास्त्रार्थ तो अनुभवी ही कर सकता है।

परन्तु प्राकृत मनुष्योंके लिए भी तो कुछ सिद्धान्त तो हैं ही। शास्त्रोंके वे अर्थ जो सत्यके विरोधी हैं, सही नहीं हो सकते। जिससे सत्यके सत्य होनेके बारेमें ही शंका है उसके लिए शास्त्र है ही नहीं अथवा यों कहिये उसके लिए सब शास्त्र अशास्त्र हैं। उसको कोई नहीं पहुँच सकता। जिसे शास्त्रमेंसे अहिंसा नहीं

प्राप्त हुई है उसके लिए भय है लेकिन उसका उद्धार न हो यह बात नहीं। सत्य विध्यात्मक है, अहिंसा निषेधात्मक है। सत्य वस्तुका साची है। अहिंसा वस्तु होनेपर भी उसका निषेध करती है। सत्य है, असत्य नहीं है। हिंसा है, अहिंसा नहीं है। फिर भी अहिंसा ही होना चाहिये। यही परम धर्म है। सत्य स्वयं सिद्ध है। अहिंसा उसका सम्पूर्ण फल है, सत्यमें वह छिपी हुई है। वह सत्यकी तरह व्यक्त नहीं है। इसलिए उसको मान्य किये बिना मनुष्य भले ही शास्त्रका शोध करे। उसका सत्य उसे आखिर अहिंसा ही सिखायेगा।

सत्यके लिए तपश्चर्या तो करनी ही पड़ती है। सत्यका साक्षात्कार करनेवाले तपस्वीने चारो ओर फैली हुई हिंसामेंसे अहिंसा देवीको संसारके सामने प्रकट करके कहा—हिंसा मिथ्या है, माया है, अहिंसा ही सत्य वस्तु है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह भी अहिंसाके लिए ही हैं। ये अहिंसाको सिद्ध करनेवाले हैं। अहिंसा सत्यका प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है। सत्यार्थी अपने शोधके लिए प्रयत्न करते हुए यह सब बड़ी जल्दी समझ लेगा और फिर उसे शास्त्रका अर्थ करनेमें कोई मुसीबत पेश न आयेगी।

शास्त्रका अर्थ करनेमें दूसरा नियम यह है कि उसके शब्दोंको पकड़कर नहीं बैठना चाहिये लेकिन उसकी ध्वनि देखनी चाहिये, उसका रहस्य समझना चाहिये। तुलसीदासजीका रामायण उत्तम ग्रन्थ है, क्योंकि उसकी ध्वनि स्वच्छता है, दया है, भक्ति है। उसने 'शूद्र गँवार ढोल अरु नारी, ये सब ताड़नके अधिकारी' लिखा इसलिए यदि कोई पुरुष अपनी स्त्रीको मारे तो उसकी अधोगति होगी। रामचन्द्रजीने सीताजीपर कभी प्रहार नहीं किया। इतना ही नहीं उन्हें कभी दुःख भी नहीं पहुँचाया। तुलसीदासजीने केवल प्रचलित वाक्यको लिख दिया। उन्हें इस बातका खयाल भी न हुआ होगा कि इस बातका आधार लेकर अपनी अर्धांगिनियोंका ताड़न करनेवाले पशु भी कहीं निकल पड़ेंगे। यदि स्वयं तुलसीदासजीने भी रिवाजके वशवर्ती होकर अपनी पत्नीका ताड़न भी किया होता तो भी क्या? यह ताड़न अवश्य ही दोष है। फिर भी रामायण पत्नीके ताड़नके लिए नहीं लिखा गया है। रामायण तो पूर्ण पुरुषका दर्शन करानेके लिए, सती शिरोमणि सीताजीका परिचय करानेके लिए और भरतकी आदर्श भक्तिका चित्र चित्रित करनेके लिए लिखा गया है। दोषयुक्त रिवाजोंका समर्थन जो उसमें पाया जाता है वह त्याज्य है। तुलसीदासजीने भूगोल सिखानेके लिए अपना अमूल्य ग्रन्थ नहीं बनाया है इसलिए उसके ग्रन्थमें यदि गलत भूगोल पाया जाय तो उसका त्याग करना अपना धर्म है।

अब गीताजी देखें। ब्रह्मज्ञान प्राप्ति और उसके साधन यही गीताजीका विषय है। दो सेनाओंके बीच युद्धका होना निमित्त है। यह भले ही कह सकते हों कि कवि स्वयं युद्धादिको निषिद्ध नहीं मानते थे और इसलिए उन्होंने युद्धके

प्रसंगका इस प्रकार उपयोग किया है। महाभारत पढ़नेके बाद तो मेरे ऊपर जुदी ही छाप पड़ी है। व्यासजीने इतने सुन्दर ग्रन्थकी रचना करके युद्धके मिथ्यात्वका ही वर्णन किया है। कौरव हारे तो क्या हुआ और पाण्डव जीते तो भी उससे क्या हुआ ? विजयी कितने बचे ? उनका क्या हुआ ? कुन्ती माताका क्या हुआ ? और आज यादव-कुल कहाँ है ?

जहाँ विषय युद्धका वर्णन और हिंसाका प्रतिपादन नहीं है वहाँ उसपर जोर देना केवल अनुचित माना जायगा। और यदि कुछ श्लोकोंका सम्बन्ध अहिंसाके साथ बैठाना मुश्किल मालूम होता है तो सारी गीताजीको हिंसाके चौखटेमें मढ़ना उससे कहीं ज्यादह मुश्किल है। कवि जब किसी ग्रंथकी रचना करता है तो वह उसके सब अर्थोंकी कल्पना नहीं कर लेता है। काव्यकी यही खूबी है कि वह कविसे भी बढ़ जाता है। जिस सत्यका वह अपनी तन्मयतामें उच्चारण करता है वही सत्य अक्सर उसके जीवनमें नहीं पाया जाता। इसलिए बहुतेरे कवियोंका जीवन उनके काव्योंके साथ सुसंगत नहीं मालूम होता है। गीताजीका सर्वांश तात्पर्य हिंसा नहीं है लेकिन अहिंसा है; यह दूसरा अध्याय जिससे विषयका आरम्भ होता और अठारहवाँ अध्याय जिसमें उसकी पूर्णाहुति होती है देखनेसे प्रतीत होगा। मध्यमें देखोगे तो भी यही प्रतीत होगा। बिना क्रोधके, रागके या द्वेषके हिंसाका होना संभव नहीं। और गीता तो क्रोधादिको पार करके गुणातीतकी स्थितिमें पहुँचानेका प्रयत्न करती है। गुणातीतमें क्रोधका सर्वथा अभाव होता है। अर्जुनने कानतक खींचकर जब जब धनुष चढ़ाया उस समयकी उसकी लाल लाल आँखें मैं आज भी देख सकता हूँ।

परन्तु अर्जुनने कब अहिंसाके लिए युद्ध छोड़नेका हठ किया था। उसने तो बहुत-से युद्ध किये थे। उसे तो यकायक मोह हो गया था। वह तो अपने सगे सम्बन्धियोंको नहीं मारना चाहता था। अर्जुनने दूसरोंको, जिन्हें वह पापी समझता हो, न मारनेकी बात तो की न थी। श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी हैं। वे अर्जुनका यह क्षणिक मोह समझ लेते हैं। और इसलिए उससे कहते हैं—'तुम हिंसा तो कर चुके हो। अब इस प्रकार यकायक समझदार बननेका दंभ करके तुम अहिंसा न सीख सकोगे। इसलिए जिस कामका तुमने आरंभ किया है उसे अब तुम्हें पूरा करना ही चाहिये।' घण्टेमें चालीस मीलके वेगसे जानेवाली रेलगाड़ीमें बैठा हुआ शख्स यकायक प्रवाससे विरक्त होकर यदि चलती हुई गाड़ीसे ही कूद पड़े तो यही कहा जायगा कि उसने आत्महत्या की है। उससे उसने प्रवास या रेलगाड़ीमें बैठनेके मिथ्यात्वको कुछ नहीं सीखा है। अर्जुनका भी यही हाल था। अहिंसक कृष्ण अर्जुनको दूसरी सलाह दे ही नहीं सकता था। लेकिन उससे यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि गीताजीमें हिंसाका ही प्रतिपादन किया गया है। यह अर्थ निकालना उतना ही अनुचित है जितना

यह कहना कि शरीर-व्यापारके लिए कुछ हिंसा अनिवार्य है और इसलिए हिंसा ही धर्म है। सूक्ष्मदर्शी इस हिंसामय शरीरसे अशरीरी होनेका अर्थात् मोक्षका ही धर्म सिखाता है। लेकिन धृतराष्ट्र कौन था? दुर्योधन, युधिष्ठिर और अर्जुन कौन थे? कृष्ण कौन थे? क्या ये सब ऐतिहासिक पुरुष थे? और क्या गीताजीमें उनके स्थूल व्यवहारका ही वर्णन किया गया है? अकस्मात् अर्जुन सवाल करता है और कृष्ण सारी गीता पढ़ जाते हैं। और यही गीता अर्जुन, उसका मोह नष्ट हुआ है, यह कहकर भी फिर भूल जाता है और कृष्णसे दुबारा अनुगीता कहलवाता है।

मैं तो दुर्योधनादिको आसुरी और अर्जुनादिको दैवी वृत्ति मानता हूँ। धर्मक्षेत्र यह शरीर ही है। उसमें द्वन्द्व चलता ही रहता है और अनुभवी ऋषि कवि उसका सादृश वर्णन करते हैं। कृष्ण तो अन्तर्यामी हैं और हमेशा शुद्ध चित्तमें घड़ीकी तरह टिक-टिक करते रहते हैं। यदि चित्तको शुद्धिरूपी चाबी नहीं दी गयी हो तो यद्यपि अन्तर्यामी वहाँ रहते तो हैं, लेकिन उनका टिकटिकाना तो अवश्य बन्द हो जाता है।

कहनेका आशय यह नहीं कि इसमें स्थूल युद्धके लिए अवकाश ही नहीं है। जिसे अहिंसा सूझी ही नहीं है उसे यह धर्म नहीं सिखाया गया है कि कायर बनना चाहिये। जिसे भय लगता है, जो संग्रह करता है, जो विषयमें रत है, वह अवश्य ही हिंसामय युद्ध करेगा। लेकिन उसका वह धर्म नहीं है। धर्म तो एक ही है। अहिंसाके मानी हैं मोक्ष और मोक्ष सत्यनारायणका साक्षात्कार है। पर इसमें पीठ दिखानेको तो कहीं अवकाश नहीं है। इस विचित्र संसारमें हिंसा तो होती ही रहेगी। उससे बचनेका मार्ग गीता दिखाती है। लेकिन साथ-साथ गीता यह भी कहती है कि कायर होकर भागनेसे हिंसासे न बच सकोगे। जो भागनेका विचार करता है उसे तो मारना चाहिये या मरना ही चाहिये।

प्रश्नकर्त्ताने जिन श्लोकोंका उल्लेख किया है उनका रहस्य यदि अब भी उनकी समझमें न आये तो मैं समझानेको असमर्थ हूँ, सर्वशक्तिमान ईश्वर, कर्त्ता, भर्त्ता और संहर्त्ता है और वह ऐसा ही होना चाहिये। इस विषयमें कोई शंका तो न होगी? जो उत्पन्न करता है वह उसका नाश करनेका अधिकार भी अपने पास रखता है। वह किसीको भी नहीं मारता है क्योंकि वह उत्पन्न भी नहीं करता है। नियम यह है कि जिसने जन्म लिया है उसने मरने ही के लिए जन्म लिया है। यह उसकी दया है। यदि ईश्वर ही स्वच्छन्द और स्वेच्छाचारी बन जाय तो हम सब कहाँ जायेंगे?

हिन्दी नवजीवन
१५ अक्तूबर, १९२५

# अमेरिकासे

एक महाशयने कुछ समय पहले अमेरिकासे पत्र लिखकर मुझसे कितने ही प्रश्न पूछे थे और मैंने 'यंग इण्डिया' में उसके उत्तर भी दिये थे। अब उन्होंने और भी कुछ प्रश्न पूछे हैं। पहला प्रश्न यह है —

"जिस वस्तुपर आपका प्रेम है उसे ही यदि वह न बचा सके तो निर्भय और बहादुर मनोवृत्तिका उपयोग ही क्या है? यह माना कि आपको मृत्युका जरा भी डर नहीं है परन्तु यदि आप आखिरतक अहिंसात्मक ही बने रहना चाहेंगे तो उसमें ऐसी क्या बात है कि जो लुटेरोंको आपकी प्रिय वस्तु लूट लेनेसे, उसे आपके हाथसे छीन लेनेसे रोक सकती है? जो लुटेरोंका शिकार बना है वह यदि हिंसात्मक प्रतिकार न करेगा तो उसे लूट लेना लुटेरेके लिए बड़ा ही आसान काम हो जायगा। लूट तो बराबर हो रही है और जबतक ऐसे शिकार जो आसानीसे लूट लिये जा सकते हैं, संसारमें मिलते रहेंगे तबतक वह बराबर बनी भी रहेगी। प्रतिकार करें या न करें, शक्तिशाली निर्बलको लूटेगा ही। निर्बल होना ही पाप है। इस निर्बलताको किसी भी उपायसे दूर करनेके लिए तैयार न होना भी एक अपराध ही है।"

लेखक यह भूल जाते हैं कि प्रतिकार हमेशा सफल नहीं होता है। डाकू यदि अधिक ताकतवर हुआ तो वह उन रक्षा करनेवालोंको हरा देगा और उसका प्रतिकार करनेसे उसके क्रोधकी आगमें घी पड़ जायगा और उस प्रज्वलित आगका वह दुर्भागी शिकार ही बलि बन जायगा। इससे तो उसकी तरफसे प्रतिकार करनेसे उसकी हालत और भी अधिक बुरी होगी। यह सच है कि रक्षकको अपने तईं भरसक रक्षा करनेकी कोशिश करनेसे संतोष मिलेगा। परन्तु अहिंसात्मक रक्षकको भी वही सन्तोष प्राप्त हो सकेगा। क्योंकि उसकी रक्षा करनेके प्रयत्नमें वह अपनी जान दे देगा। इससे भी अधिक उसे इस बातका भी सन्तोष होगा कि अपनी दलीलोंसे उसने डाकूके हृदयको मुलायम बनानेका भी प्रयत्न किया। लेखकने इस बातको मान लिया है कि अहिंसात्मक रक्षक तो उस डाकेका केवल शान्त क्रिया-हीन और लाचार प्रेक्षक ही होता है और इसलिए उनको यह कठिनाई मालूम होती है। परन्तु सच बात तो यह है कि चाहे कैसी भी योजना क्यों न हो, प्रेम पशुबलकी अपेक्षा अधिक क्रियात्मक और शक्तिशाली होता है। जिसमें प्रेम नहीं होता और फिर भी जो शान्त क्रिया-हीन खड़ा रहता है, वह कायर है। वह न पशु है मनुष्य ही है। उसने तो अपनेको रक्षक बननेके लिए अयोग्य ही साबित किया है।

यह स्पष्ट है कि लेखकने मेरी तरह शान्त प्रतिकारकी महान शक्तिका

शत्रुओंपर जो असर होता है उनका अनुभव नहीं किया है। शान्त प्रतिकार एक इच्छाशक्तिका दूसरी इच्छाशक्तिके प्रति प्रतिकार है। यह प्रतिकार तभी संभव हो सकता है जब उसे पशुबलके आधारपर मुक्ति मिल जाय। पशुबलपर आधार रखनेमें तो यह बात पहलेसे ही ग्रहित कर ली जाती है कि जब यह शक्ति खतम हो जायगी तो उसे प्रतिस्पर्द्धीके वश होना पड़ेगा। क्या लेखक यह जानते हैं कि एक स्त्री भी निश्चयात्मक इच्छाशक्ति होनेपर अपने जुल्म करने वालेका चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो सफलता पूर्वक प्रतिकार कर सकती है।

मैं यह स्वीकार करता हूं कि शक्तिशाली दुर्बलको लूट लेगा और निर्बल होना एक पाप ही है। परन्तु यह तो मनुष्यके आत्माके लिए कहा गया है, शरीरके लिए नहीं, यदि शरीरके लिए कहा गया होता तो हम निर्बल होनेके पापसे कभी भी मुक्त नहीं हो सकते हैं। परन्तु आत्माकी शक्ति, उसके खिलाफ सारी दुनियाँ हथियार लेकर क्यों न खड़ी हो जाय वह उसकी कुछ भी परवाह नहीं करती है। यह शक्तिशरीरमें दुर्बलसे दुर्बल मनुष्यको भी प्राप्त हो सकती है। दुर्बल इच्छा शक्तिका जुल्द शरीरमें राक्षस जैसा बल रखनेपर भी एक छोटेसे गोरे बच्चेके वश हो जाता है। दृढ़ शरीरके गुण्डेको शरीरसे दुर्बल अपनी माताके सामने लाचार बनते हुए किसने नहीं देखा है। प्रेम पुत्रमें रहे हुए पशुको जीत लेता है। माता और पुत्रमें जो प्रेम होता है वह प्रयोगमें सर्वव्यापी है और उसके दोनों तरफ होनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है वह स्वयं पुरस्काररूप है। बहुतसी माताओंने अपने गलत मार्गपर जानेवाले उद्धत बच्चोंको अपने प्रेमके कारण ही सुधार दिया है। प्रेमकी दुर्बलतासे हमें मुक्त होनेकी तैयारी करनी चाहिये। उसमें सफलता होनेकी आशा है। क्योंकि प्रेम करनेमें स्पर्धाका होना आरोग्यवर्धक है। संसार पशुबलका उपयोग करनेमें सबल बननेका युगोंसे प्रयत्न कर रहा है परन्तु उसमें उसे बुरी तरह से असफलता मिली है। पशुबल उत्पन्न करनेमें स्पर्द्धा करना अपने आप अपनी जातिकी आत्महत्या कर लेना है।

लेखक लिखते हैं—

"ब्रिटिश अधिकारी वर्गोंमें भी उतना ही आत्मबल है जितना आपमें है परन्तु उनके पास फौजी बल भी है और इसके अलावा मनुष्य स्वभावका उन्हें व्यावहारिक ज्ञान है, और उसका परिणाम स्पष्ट है।"

जहाँ फौजीबल होता है, वहाँ आत्मबल नहीं रहता है। भय उत्पन्न करनेकी वृत्ति, निर्बलोंको चूसनेकी वृत्ति, अनीतिमूलक लाभ, देहके सुखोंकी कभी शान्त न होनेवाली तृष्णा जहाँ होती है वहाँ आत्मबल कभी नहीं होता। इसलिए ब्रिटिश अधिकारीगण यदि आत्मबलसे सर्वथा हीन नहीं हैं तो उनका आत्मबल उनके पशु-बलसे दबा हुआ अवश्य है। इसके बाद लेखक एक सनातन समस्या उपस्थित करते हैं—

"संसारमें कुछ लोग बड़े लालची हैं और वे बड़ी बुराई कर रहे हैं। उनके हाथमें शक्ति अधिकार है। वे पागल हो सकते हैं फिर भी वे बड़ी हानि कर रहे हैं। इसलिए अब इससे काम न चलेगा कि हम हाथ बांधकर खड़े देखा करें और वे अपना शैतानका सा काम करते रहें। अहिंसाकी बलि देकर भी हमें उनके हाथसे अधिकार छीन लेना चाहिये ताकि वे कुछ अधिक हानि न पहुंचा सकें।"

इतिहास हमें यह शिक्षा देता है कि जिन्होंने निःसन्देह प्रामाणिक उद्देशोंके साथ ऐसे लोभी मनुष्योंके विरुद्ध पशुबलका उपयोग करके उन्हें हरा दिया है, वे भी अपना समय आनेपर उन हारे हुए लोगोंके उस रोगके भोग हो गये हैं। यदि गुलामोंके नायक बननेके बनिस्बत गुलाम बनाना ही अधिक अच्छा है और यदि कोई पोथीमेंके बेठन नहीं है तो गुलामोंके नायकोंको उनसे जितनी भी बुराई हो सके हम उन्हें करने देंगे और इस युद्धकी पाशविक खींचातानीसे जो हमारे स्वभावके प्रतिकूल हैं, अब ऊब गये हैं इसलिए ऐसे लोभी चूसनेवालोंके पशुबलका आत्मबलसे सामना करनेके जो साधन संभव हो सकते हैं उन्हें ही ढूँढ़नेका प्रयत्न करेंगे।

परन्तु लेखकको तो प्रयोगके आरंभमें ही यह कठिनाई मालूम होने लगी हैं —

"महात्माजी, आप इस बातको स्वीकार करते हैं कि भारतके लोगोंने आपके धर्मका अनुसरण नहीं किया है। मालूम होता है कि उसका कारण भी आपको मालूम नहीं है। बात यह है कि साधारण मनुष्य सब महात्मा नहीं होते। यह बात इतिहाससे सिद्ध है और उसमें सन्देह करनेका कोई भी अवकाश ही नहीं है। भारतमें और दूसरी जगहोंमें थोड़े महात्मा लोग हुए हैं परन्तु वे अपवादरूप हैं और अपवाद नियमका ही समर्थन करता है। आपको ऐसे अपवादोंके आधारपर अपने कार्योंका निर्माण नहीं करना चाहिए।"

यह बड़े विस्मयकी बात है कि हम अपने आपको कैसे भ्रममें डाल देते हैं। हम यह खयाल करते हैं कि हम इस नाशवन्त शरीरको अमर बना सकते हैं और आत्माकी गुप्त शक्तिको व्यक्त करना असंभव समझते हैं। यदि मुझमें इन शक्तियोंमेंसे एक भी शक्ति उत्पन्न हुई तो मैं यह दिखानेके प्रयत्नमें ही लगा हुआ हूँ कि मेरा शरीर उतना ही निर्बल और नाशवन्त है जितना कि हमारेमेंसे किसी दूसरे मनुष्यका है और मुझमें ऐसी कोई विशेष शक्ति कभी थी ही नहीं और न आज है। मैं तो दूसरे मनुष्य प्राणियोंकी तरह गलती करनेवाला एक सादा व्यक्ति होनेका ही दावा करता हूँ। फिर भी मैं इस बातको स्वीकार करता हूँ कि मेरेमें इतना मनुष्यत्व अवश्य है कि मैं अपनी गलतियोंको स्वीकार कर लेता हूँ और उस गलत मार्गको छोड़ देता हूँ। मैं इस बातको भी स्वीकार करता हूँ कि

मुझे ईश्वरपर और उसकी भलाईपर अटल श्रद्धा है और सत्य और प्रेमके लिए मेरेमें अक्षय उत्साह है। परन्तु क्या यह गुण प्रत्येक मनुष्यमें छिपे हुए नहीं हैं ? यदि हमें प्रगति करनी है तो हमें इतिहासको नहीं दुहराना चाहिए परन्तु नये इतिहासकी रचना करनी चाहिये। हमारे पूर्वज हमारे लिए जो बातें छोड़ गये हैं उनमें हमें कुछ वृद्धि करनी चाहिये। यदि हम दृश्य जगतमें नये-नये शोध कर रहे हैं तो क्या हमें आध्यात्मिक क्षेत्रमें अपनेको दिवालिया साबित करना चाहिये ? अपवादोंकी वृद्धि करके उसे ही नियम बना देना क्या असंभव है ? क्या मनुष्यको हमेशा प्रथम पशु ही होना चाहिए और फिर मनुष्य ?

हिन्दी नवजीवन
६ मई, १९२६

❀

"जिसका जीवन सत्यमय है वह तो शुद्ध स्फटिक मणिकी तरह हो जाता है। उसके पास असत्य जरा देरके लिए भी नहीं ठहर सकता। सत्याचरणी को कोई धोखा दे ही नहीं सकता; क्योंकि उसके सामने झूठ बोलना अशक्य हो जाना चाहिये। संसारमें कठिनसे कठिन व्रत सत्यका है।"

—गांधीजी

❀

# अहिंसाकी गुत्थी

एक भाई लिखते हैं—

"माना कि मैं संसारी हूँ। बड़ा खयाल रखनेपर भी खटियामें खटमल हो गये हैं। उन्हें उठाकर रखनेमें भी कितने ही मर जाते हैं। घड़ेके पानीमें भी जीव पड़ गये हैं और उस पानीको फेंक देनेपर भी उन छोटे छोटे जीवोंकी हिंसा होती है। घरमें मकड़ीने जाले बनाये हैं। उन्हें साफ करनेमें भी हिंसा होती है। मान लो कि मैं एक व्यापारी हूँ। मालकी पेटीमें जीव पड़ गये हैं। यदि उन जीवोंको मैं दूर न करूँ तो मालका नुकसान होता है। मैं बाहर घूमनेके लिए जाता हूँ तो उस क्रियामें भी पैरोंके नीचे थोड़े बहुत जीव आ जाते हैं। बत्ती जलाता हूँ तो यहां भी यही मुश्किल होती है। सिंहादिके विषयमें पूछना ही क्या है? ऐसे दूसरे अनेक दृष्टांत मैं दे सकता हूँ। क्या आप उनका खुलासा कर सकेंगे? ऐसी स्थितिमें अहिंसा धर्मका पालन कैसे किया जाय?"

इस प्रकारके प्रश्न बारबार उठते हैं। ऐसे प्रश्नोंको तुच्छ समझकर दूर कर देनेसे भी काम नहीं चल सकता है। पूर्व और पश्चिमके गूढ़ रहस्ययुक्त ग्रंथोंमें भी ऐसे प्रश्नोंकी तो चर्चा की गयी है। मेरी अल्पमतिके अनुसार तो इन सब प्रश्नोंका एक ही उत्तर है क्योंकि सभीका मूल एक हीमें समाया हुआ है। ऊपर कही गयी सभी क्रियाओंमें अवश्य हिंसा है क्योंकि क्रियामात्र हिंसामय है। और इसलिए सदोष है। भेद है तो सिर्फ कम व बेश परिमाणका ही है। देहका और आत्माका सम्बन्ध ही हिंसाके आधारपर रचा गया है। पापमात्र हिंसा है और पापका सर्वथा क्षय होना ही देह-मुक्ति प्राप्त करना है। इसलिए देहधारी मनुष्य अहिंसाके आदर्शको दृष्टिके समीप रखकर जितना दूर जा सके उतना दूर जाय। परन्तु अधिकसे अधिक दूर जानेपर भी कुछ हिंसाका होना तो अनिवार्य ही होगा, जैसे श्वासोच्छ्वास लेना अथवा खाना इत्यादिमें। अनाजके प्रत्येक कणमें जीव है। इसलिए यदि हम मांसाहारके बदले अन्नाहार करते हैं तो उससे हम हिंसासे मुक्त नहीं गिने जा सकते हैं परन्तु अन्नाहारमें होनेवाली हिंसाको अनिवार्य समझकर उसका आहार करते हैं और इसीलिए तो भोगके लिए आहार सर्वथा त्याज्य है। जीवित रहनेके लिए खाना चाहिये और आत्माकी पहचान करनेके लिए जीवित रहना चाहिये। इस पुरुषार्थकी साधनाके लिए जो हिंसा अनिवार्य हो उसे हमें लाचार होकर करना चाहिये। अब हम यह समझ सकेंगे कि सम्पूर्ण खयाल रहनेपर भी पानीमें पड़े हुए जीव, खटमल इत्यादिके सम्बन्धमें जो बात हमें अपरिहार्य मालूम होती हो तो उसे हमें करना होगा। मैं यह मानता हूँ कि ऐसा कोई दिव्य नियम

नहीं हो सकता है कि अमुक स्थितिमें प्रत्येक मनुष्य एक ही प्रकारकी चाल चले, दूसरी नहीं। अहिंसा हृदयका गुण है। हिंसा अहिंसाका निर्णय मनुष्यकी भावनाके आधारसे हो सकता है। इसलिए हरएक मनुष्य जो अहिंसा-धर्मको अपना कर्त्तव्य मानता हो उपर्युक्त सिद्धांतके अनुसार अपने कार्योंकी व्यवस्था कर लें। मैं यह जानता हूँ कि ऐसा उत्तर देनेमें एक दोष है। इससे मनुष्य अपनी इच्छासे चाहे जितनी हिंसा करके अपने मनकी प्रवञ्चना करेगा, संसारको ठगेगा और अनिवार्यताका बहाना निकालकर हिंसाका बचाव करेगा। परन्तु ऐसे लोगोंके लिए लेख नहीं लिखा गया है। यह उनके लिए है जो अहिंसाका आदर करते हैं परन्तु जिनके सामने समय समयपर धर्म-संकट उपस्थित होता है ऐसे मनुष्य अनिवार्य हिंसा भी बड़े संकोचसे करेंगे और अपनी प्रवृत्तिमात्रके विस्तारको कम करेंगे, बढ़ावेंगे नहीं; यहां तक कि वे अपनी एक भी शक्तिका स्वार्थ-दृष्टिसे उपयोग नहीं करेंगे वे केवल समाज-सेवाके भावसे ही ईश्वरार्पण करके अपनी सब शक्तियोंका उपयोग करेंगे। संत अर्थात् अहिंसक, अर्थात् दयालु मनुष्यकी सब विभूतियां परोपकारके लिए ही होती हैं। जहाँ अहंकार है वहाँ हिंसा अवश्य है। प्रत्येक कार्य करते समय मनमें यह प्रश्न कर लेना चाहिए यहां "मैं (अहंकार) हूं या नहीं ?" जहाँ मैं (अहंकार) नहीं है, वहाँ हिंसा नहीं है।

हिन्दी नवजीवन
१० जून, १९२६

❀

"जो मनुष्य अपनी जिह्वाको कब्जेमें नहीं रख सकता उसमें सत्यका अधिष्ठान नहीं है।"

—गांधीजी

❀

# स्वाभाविक किसे कहेंगे

आजकल स्वाभाविक शब्दका बड़ा दुरुपयोग हो रहा है। एक भाई लिखते हैं—

"जिस प्रकार मनुष्यके लिए खाना-पीना स्वाभाविक है उसी प्रकार क्रोध करना भी स्वाभाविक है।"

दूसरे भाई लिखते हैं—

"जिस प्रकार हम लोगोंका सोना-बैठना स्वाभाविक है उसी प्रकार विषय-भोग करना भी स्वाभाविक है। यदि यह बात ठीक न हो तो ईश्वरने हमें विषय वासना ही क्यों दी ? दुष्ट मनुष्यके प्रति क्रोध करना और साधुजनकी स्तुति करना यदि हमारा धर्म नहीं है तो हमें स्तुति-निंदा करनेकी शक्ति क्यों दी गयी है ? सर्व शक्तियोंका सम्पूर्ण विकास ही धर्म क्यों न हो ? इस प्रकार विचार करनेसे क्या यह प्रमाणित नहीं होता है कि जितने अंशोंमें अहिंसा धर्म है उतने अंशोंमें हिंसा भी धर्म है ? थोड़ेमें कहें तो यही प्रतीत होता है कि पुण्य पाप हमारे दुर्बल मनकी कल्पना मात्र है। आपका अहिंसा धर्म एकांगी होनेके कारण दुर्बलताका ही सूचक प्रतीत होता है, और इसलिए उसे धर्म नहीं परन्तु परम अधर्म क्यों नहीं गिन सकते हैं ? 'अहिंसा परमो धर्मः' इसमें अवग्रह छूट गया मालूम होता है। अथवा किसी मनुष्य जातिके शत्रुने उसे उड़ा दिया मालूम होता है। क्योंकि यह प्रतीत होता है कि बहुत मरतबा तो अहिंसाका परम अधर्म होना ही बड़ी आसानीसे साबित किया जा सकता है।"

ऊपर की गयी सब दलीलें किसी एक ही मनुष्यकी नहीं हैं, परन्तु दो चार या उससे भी अधिक मनुष्योंकी दलीलोंकी एकत्र सार हैं। अवग्रहके छूट जानेकी अथवा उसे उड़ा देनेकी कल्पना एक वकील मित्रकी है और उन्होंने यह दलील बड़ी गम्भीरताके साथ पेश की थी। यदि मनुष्यको भी पशुओंकी श्रेणीमें रख दिया जाय तो अनेक बातें जिसे हम स्वाभाविक मानते हैं स्वाभाविक सिद्ध हो सकती हैं। परन्तु यदि उन दोनोंमें जातिभेद होनेको हम स्वीकार करें तो यह नहीं कहा जा सकता कि जो बातें पशुओंके लिए स्वाभाविक हैं वे सब मनुष्योंके लिए भी स्वाभाविक हैं। मनुष्य ऊर्ध्वगति प्राणी है। उसे सारासार विवेक-बुद्धि दी गयी है। वह बुद्धिपूर्वक परमात्माका भजन करता है और उसे जाननेका, पहचाननेका भी प्रयत्न करता है; उसकी पहचान कर लेना ही वह अपना पुरुषार्थ समझता है। परन्तु यदि यह कहा जा सके कि पशु भी ईश्वरका भजन करता है तो वह अनिच्छासे ही ऐसा करता है, स्वेच्छासे नहीं।

और मनुष्य तो अपनी इच्छासे शैतानकी भी पूजा करता है। इसलिए मनुष्यका स्वभाव तो ईश्वरके जाननेका ही होना चाहिये और है। जब मनुष्य शैतानकी पूजा करता है तब वह अपने स्वभावके प्रतिकूल कार्य करता है। यदि कोई यही मानता हो कि मनुष्य और पशुमें कोई जातिभेद नहीं है तो उसके लिए यह दलील अवश्य निरर्थक है। वह अवश्य यह कह सकता है कि पाप-पुण्य जैसी कोई चीज नहीं। ईश्वरकी जानकारी प्राप्त करनेके स्वभावसे युक्त मनुष्यके लिए तो खाना-पीना इत्यादि भी केवल अमुक दृष्टिसे ही स्वाभाविक हो सकता है; क्यों कि ऐसा स्वभाव रखनेवाला मनुष्य खानेके लिए अथवा भोगके लिए खायेगा-पीयेगा नहीं परन्तु ईश्वरकी पहिचान करनेके लिए ही खाना खायेगा। इसलिए खानेके प्रति वह हमेशा पसन्दगी, मर्यादा और त्यागका भाव ही दिखलायेगा।

इसी प्रकार विचार करनेसे हमें यह भी मालूम होगा कि विषयभोग मनुष्य-स्वभावके लिए प्रतिकूल वस्तु है। इस भोगका सर्वथा त्याग करना ही उसके स्वभावके अनुकूल है। और उस भोगका सर्वथा त्याग किये बिना ईश्वरकी पहिचान करना भी असम्भव है। मनुष्यके अन्दरकी सर्व शक्तियोंका संपूर्ण विकास करना उसका धर्म नहीं है, वह उसका स्वभाव नहीं है, परन्तु ईश्वरके निकट ले जानेवाली सब शक्तियोंका विकास करना और उसके प्रतिकूल तमाम शक्तियोंका सर्वांशमें त्याग कर देना यही उसका दोहरा धर्म है।

जिस प्राणीको ग्रहण करनेकी और त्याग करनेकी पसंदगी अथवा स्वतंत्रता है उसका काम पाप-पुण्यका भेद माने बिना चल ही नहीं सकता है। पाप-पुण्यका दूसरा अर्थ है त्याज्य और ग्राह्य वस्तु। दूसरेकी चीज उससे छीन लेना त्याज्य है, पाप है। हममें अच्छी और बुरी वासनाएँ रही हुई हैं। बुरी वासनाओंका त्याग करना हमारा धर्म है। यदि वैसा हम न करें तो हम मनुष्य जन्म प्राप्त करनेपर भी पशु बन जाते हैं और इसीलिए तो सभी धर्म पुकार पुकार कर यह कहते हैं कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है। मनुष्य देह हमारी परीक्षा-कसौटी करनेके लिए दिया गया है और हिन्दू धर्म कहता है कि इस कसौटीमें परीक्षामें अनुत्तीर्ण होनेपर हमें फिर पशुयोनिमें जाना होगा।

इस संसारमें हिंसा सब जगह व्याप्त है। एक अंग्रेजी वाक्यका अर्थ है कि कुदरतके नाखून खूनसे रंगे होते हैं। यदि ऊपर ऊपरसे ही इस वाक्यपर हम विचार करेंगे तो उसका सत्य हमें जगह-जगहपर दिखायी देगा। परन्तु यदि मनुष्योंको दूसरे प्राणियोंसे उत्तम मानें और उनमें एक विशेष इन्द्रियका आरोपण करें तो हमें फौरन ही यह मालूम होगा कि इस लाल खूनसे रंगे नाखूनोंवाली कुदरतके बीच मनुष्य ऐसे नखोंसे हीन बड़ी शोभा पा रहा है। मनुष्यका यदि कोई अलौकिक कर्तव्य हो, उसको शोभा दे तो वह अहिंसा ही है। हिंसाके मध्य खड़ा रहकर अपने अन्तरकी गुफामें गहरे जाकर, अनुभव प्राप्त करके वह कहता है—

'इस हिंसामय संसारमें मनुष्यका धर्म अहिंसा है। और जितने अंशोंमें वह अहिंसक है उतने ही अंशोंमें वह अपनी जातिको शोभा दे सकता है।'

मनुष्य-स्वभाव हिंसा नहीं परन्तु अहिंसा है। क्योंकि वही अपने अनुभवसे निश्चयपूर्वक यह कह सकता है—"मैं देह नहीं हूँ परन्तु आत्मा हूं, और इस देहका आत्माके विकासके अर्थ, आत्म-दर्शनके अर्थ ही उपयोग करनेका मुझे अधिकार है।" और उसमेंसे वह देह-दमनकी, काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर, आदि शत्रुओंको जीत लेनेकी नीतिकी रचना करता है, उन्हें जीतनेके लिए बड़ा प्रयत्न करता है और उसमें वह सम्पूर्ण विजय प्राप्त करता है। और जब वह ऐसी विजय प्राप्त करता है तभी कहा जा सकता है कि उसने मनुष्य जातिके अनुकूल कार्य किया है। इसलिए राग-द्वेषादिको जीत लेना कोई अतिमानुषी कार्य नहीं है परन्तु मानुषी कार्य है। अहिंसाका पालन बड़े उच्च प्रकारकी वीरताका लक्षण है। अहिंसामें भीरुताके लिए कहीं भी स्थान नहीं हो सकता है।

हिन्दी नवजीवन,

१७ जून, १९२६

❀

"जो सत्य जानता है; मनसे, वचनसे और मायासे सत्यका आचरण करता है, वह परमेश्वरको पहचानता है। इससे वह त्रिकालदर्शी हो जाता है। उसे इसी देहमें मुक्ति प्राप्ति हो जाती है।"

—गांधीजी

❀

# जीवदया ? ( अहिंसा—१ )

अहमदाबाद 'जीवदया-प्रचारिणी महासभा' की ओरसे मेरे पास एक पत्र आया है। उसका आवश्यक अंश मैं नीचे देता हूँ—

"…..सेठजीने अपनी मिलमें ६० कुत्तोंको जो गोली मरवा दी थी शहरमें उसकी चर्चा हालमें खूब चल रही है। इससे कई दया-प्रेमी सज्जनोंके दिलोंको चोट पहुँची है।

"हिन्दू धर्म-शास्त्रमें किसी भी जीवको मारना निषिद्ध है। इसलिए मारनेसे पाप लगता है। अब पगला कुत्ता मनुष्यको काटेगा तब उससे मनुष्यकी हानि होगी ही और वह दूसरे कुत्तोंको काटेगा तो पगले कुत्तोंकी संख्या बढ़ेगी। इस भयसे अगर उन्हें मार दिया जाय तो हिन्दू धर्मशास्त्रका उपर्युक्त सिद्धान्त जानकर भी आप क्या इसे वाजिब मानेंगे? इसमें मारनेवाले या मरवानेवालेको पाप नहीं लगेगा क्या? आप क्या ऐसा कह सकते हैं?

"हमारी सभाके (तीन सज्जनोंके) डिपुटेशनने तारीख २८—६—२६ के रोज……सेठजीसे मुलाकात की थी। उस समय बातचीतमें उन्होंने अपने आप कबूल किया कि एक पगले कुत्तेने दूसरे अच्छे कुत्तोंको काट खाया। इससे आदमियोंकी सलामतीके लिए मैंने यह काम करना (कुत्तोंको मरवा डालना) उचित समझा।' इसके अलावा उन्होंने यह भी कहा कि 'जिस दिन यह कृत्य किया उस दिन रातको मुझे नींदतक नहीं आयी। दूसरे दिन सबेरे महात्माजीसे मैं मिला और सारी हकीकत कहकर उनका अभिप्राय पूछा। महात्माजीने बतलाया कि 'इसके सिवाय और दूसरा हो क्या सकता था?' क्या यह बात सच है? यदि आपने भी यही जवाब दिया हो तो इसका अर्थ क्या समझा जाय?

"हम आशा करते हैं कि आप इसका समुचित खुलासा कर देंगे कि जिसमें शहरमें होती हुई यह चर्चा बन्द हो जाय, और हिन्दू-धर्मके ऊपर यह आघात करनेमें एक नामी व्यक्तिका उदाहरण उपस्थित होनेसे जीव-दयाकी प्रगतिका अवरोध न हो। विशेष बात यह है कि हमारे सुननेमें आया है कि अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटीमें कुत्तोंको खस्सी (बधिया) करनेका प्रस्ताव आनेवाला है। यह प्रस्ताव क्या उचित है? प्रकृतिके बनाये हुए किसी भी प्राणीको इस प्रकार बधिया करनेमें धार्मिक दृष्टिसे क्या कोई दोष नहीं है? हम आशा रखते हैं कि इस बाबतमें भी आप सच्चा मार्ग यानी अपने विचार बतायेंगे।"

मिल-मालिकका नाम अहमदाबाद तो जानता ही है किन्तु 'हिन्दी-नव-जीवन' अहमदाबादके बाहर भी पढ़ा जाता है; इसलिए किसी सिद्धान्तकी चर्चा करनेमें जहाँतक हो सके नाम-ठाम न देनेके अपने रिवाजके अनुसार मिल-मालिकका नाम छोड़ दिया है। जीव-दया सभाका उठाया हुआ यह प्रश्न कठिन है। जब यह घटना घटी तभी या उससे भी पहले, इसके तत्वकी 'नवजीवन'में

चर्चा करनेका मैंने इरादा किया था लेकिन पीछेसे वह विचार छोड़ दिया। उपस्थित पत्रके आनेपर तो इसकी चर्चा करनेकी जवाबदारी और फर्ज मेरे ऊपर आ ही पड़े हैं।

मिल-मालिकके साथ मेरा घनिष्ट, अगर कह सकें तो, मित्रताका संबंध है। उन्होंने कुत्तोंको मरवानेके बाद मेरे पास आकर अपना दुःख प्रकाशित किया था और मेरा अभिप्राय पूछा था। उन्होंने मुझसे कहा—'जब सरकार, म्युनिसिपैलिटी और महाजन, कोई भी मेरा छुटकारा न कर सके तब जाकर मुझे यह काम करना पड़ा।" जिस उत्तरका इस पत्रमें उल्लेख किया गया है, मैंने वैसा ही उत्तर दिया था।

उसके बाद भी विचार करनेपर मुझे अपना उत्तर उचित मालूम होता है।

पगले कुत्तेको मार डालनेके सिवाय, हम अपूर्ण मनुष्योंके पास कोई उपाय ही नहीं है। खून करनेपर उतारू मनुष्यको मारनेका धर्म-संकट कितनी बार अनिवार्य हो जाता है।

अगर हम शहरमें भटकनेवाले कुत्तोंको रखनेका हठ करें तो उनको हमें या तो खस्सी करना पड़ेगा या मार डालना होगा। खास कुत्तोंके लिए ही पिंजरापोल रखना भी तीसरा उपाय है। लेकिन वह उपाय, उपाय कहने योग्य नहीं है। यों ही भटकती हुई सभी गायों-भैंसोंके लिए भी जहाँ काफी पिंजरा पोल नहीं है, वहाँ कुत्तोंके लिए अलग पिंजरा पोल खोलनेका विचार तो मुझे भयंकर लगता है।

इस विषयमें, हिन्दू-धर्ममें दो मत सुननेमें नहीं आते कि किसी भी जीवको मारनेमें पाप लगता है। मेरा अभिप्राय तो ऐसा है कि सभी धर्मोंने इस सिद्धान्तको स्वीकार किया है। सिद्धान्तको ढूँढ़नेमें कोई मुश्किल नहीं होती है। उसका केवल अमल करनेमें ही सभी मुश्किलें आ पड़ती हैं। इसलिए सिद्धान्त तो इस विषयमें पूर्ण हैं। उनका अमल करनेवाले हम मनुष्य अपूर्ण हैं। अपूर्णके द्वारा पूर्णका अमल होना अशक्य होनेके कारण, प्रतिक्षण सिद्धान्तके उल्लंघनकी नयी मर्यादा ठीक करनी पड़ती है। इससे हिन्दू-शास्त्रमें कह दिया गया है कि यज्ञार्थ की हुई हिंसा हिंसा नहीं होती। यह अपूर्ण सत्य है। हिंसा तो सभी समय हिंसा ही रहेगी और हिंसा मात्र पाप है। किन्तु जो हिंसा अनिवार्य हो पड़ती है उसे व्यवहार-शास्त्र पाप नहीं मानता। इसलिए यज्ञार्थ की गयी हिंसाका व्यवहार-शास्त्र अनुमोदन करता है और उसे शुद्ध पुण्य-कर्म मानता है।

किन्तु अनिवार्य हिंसाकी व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि वह तो देश, काल और पात्रके अनुसार बराबर बदलती रहती है। एक कालमें जो क्षन्तव्य

मानी जाती है, दूसरे कालमें वही अक्षन्तव्य। जाड़े भरमें शरीरकी रक्षाके लिए लकड़ी या कोयला जलानेमें होती हुई हिंसा दुर्बल शरीरके लिए भले ही अनिवार्य हो किन्तु भर गर्मी बिना-जरूरत जलायी गयी आग स्पष्ट हिंसा है।

हमने जन्तुनाशक दवाओंका उपयोग करके विषैले जन्तुओंका नाश करनेका धर्म स्वीकार किया है। जन्तुनाशक दवाको जाने दीजिये। बन्द कोठरीमें जहरीली दवा होती है। उसमें जहरीले कीड़े होते हैं। उस कोठरीको खोलकर हवा और उजालेको दाखिल करके हम जहरीले कीड़ेका नाश करते हैं। शुद्ध हवा उत्तम प्रकारकी जन्तुनाशक दवा है।

ऐसे बहुत उदाहरण पेश किये जा सकते हैं। जो नियम ऊपरके उदाहरणोंमें लागू पड़ता है वही नियम पगले कुत्तेको मारने या खस्सी करनेमें भी लागू होता है। पगले कुत्तोंका नाश करना तो छोटीसे छोटी हिंसा है। जंगलमें रहनेवाले दयाके सागर मुनि पगले कुत्तोंका नाश नहीं करते। उनके पास दूसरी ही रामबाण दवा है। वे अपने कृपाकटाक्षसे कुत्तोंके पागलपनका नाश कर देंगे। किन्तु वे गृहस्थाश्रमी शहराती सज्जन क्या करें, जिनके ऊपर शहरकी रक्षा और बालकोंकी रक्षाका धर्म पड़ा हुआ है, और जिनमें मुनिके आदर्श गुण तो नहीं हैं किन्तु कुत्तोंको मारनेकी शक्ति है? अगर मारते हैं तो पाप करते हैं। नहीं मारते हैं तो महापाप करते हैं। वे कुत्तोंको मरवानेका अल्प पाप करके उसकी अपेक्षा महत् पापसे बचते हैं।

मैं अपनेको अहिंसामय मानता हूँ। अहिंसा और सत्य मेरे दो प्राण हैं। मैं यह मानता हूँ कि उनके बिना मैं जी नहीं सकता। किन्तु अहिंसाकी महान शक्ति और मनुष्यकी पामरताको क्षण-क्षणमें अधिकाधिक स्पष्टतासे देखता हूँ। दयानिधि वनवासी भी सम्पूर्ण हिंसामुक्त नहीं हो सकते। उनकी प्रत्येक श्वाँस, उनसे हिंसा कराती है। यह देह तो हिंसाका स्थान है। इसीलिए सर्वथा देह-मुक्तिमें ही मोक्ष और परमानन्द रहता है। इसीसे मोक्षके आनन्दको छोड़कर और सभी आनन्द अस्थिर हैं, सदोष हैं। ऐसा होनेसे हमें हिंसाके कितने ही कड़वे घूँट पीने पड़ते हैं।

परन्तु यही तो आश्चर्य है, यही तो खेदकी बात है कि इस अहिंसाप्रधान भूमिमें कुत्तोंका सवाल भयंकर स्वरूप धारण कर सकता है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि अज्ञानके वस होकर आज हम अहिंसाके नामपर हिंसा कर रहे हैं। पगले कुत्तों या उन कुत्तोंको, जिनके विषयमें भय है कि पगले कुत्तोंके संसर्गमें आयेंगे, मारनेमें पाप भले ही हो लेकिन उनकी हस्तीके लिए सच्चे जवाबदेह तो हम हैं और हमारे महाजन हैं। महाजन लोगोंको यों ही भटकते कुत्तोंको न रहने देना चाहिये। ऐसे छुट्टे कुत्तोंको खाना देना पाप है, पाप मानना चाहिये।

इन लावारिस कुत्तोंको मारनेका अगर हम कानून बनायेंगे तो हजारों कुत्तोंकी जान बचा सकेंगे।

जीवदया आत्माका एक महान गुण है। थोड़ी चीटियों या थोड़ी मछलियों या थोड़े कुत्तोंका बचानेमें उसकी समाप्ति नहीं है। उसमें पाप भी होता है। मेरे यहाँ चींटियोंका उपद्रव होता है। उन चींटियोंको सत्तू छींटनेवाले दानी पाप करेंगे। चींटीको तो ईश्वर कण देंगे। किन्तु संभव है कि वह सत्तू छींटनेवाला मेरा और मेरे कुटुम्बका नाश कर दे। कोई जैन-संघ कुत्तेको पिंजड़में बन्द करके मेरे खेतके पास छोड़ कर आप भले सुरक्षित बन सकता है किन्तु कुत्तेको बचानेका अर्थ होता है मेरी जानको खतरेमें डालकर कुत्तेको मारनेकी अपेक्षा बहुत बड़े पापको मोल लेना।

जीव-दयामें विचार, विवेक, उदारता, अभय, नम्रता और शुद्ध ज्ञानकी जरूरत है।

इस हिंसामय जगतमें अहिंसा-रूपी तीखी तलवारकी धारपर चलना सहज काम नहीं है। यह धनसे नहीं बनता। क्रोध तो अहिंसाका बैरी है। अभिमान है, उसे खा जानेवाला राक्षस। इस धर्मके पालनमें कितनी बार हिंसाको अहिंसाके नामसे पहिचानना पड़ता है। इस जगतमें जो वस्तु जैसी दिखलायी पड़ती है, उसका स्वरूप वैसा ही नहीं होता है और जिसका जैसा स्वरूप होता है, वह वस्तु वैसी ही दिखलायी नहीं पड़ती है। अथवा कोई करोड़ों वर्षोंकी तपश्चर्याके बाद अन्तमें देख सकता है—अनुभव कर सकता है। कह तो कोई न सका, कह सकता भी नहीं।

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।<br>
यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

हिन्दी नवजीवन,<br>
१४ अक्तूबर, १९२६

❀

"मेरे सामने जब कोई असत्य बोलता है तब मुझे उसपर क्रोध होनेके बजाय स्वयं अपने ही ऊपर अधिक कोप होता है। क्योंकि मैं जानता हूँ कि अभी मेरे अन्दर-तहमें असत्यका वास है।"

—गांधीजी

# अहिंसाके लिए कमर कसो

न्यूयार्क ( अमेरिका ) के समाचार पत्र 'नेशन' से एक मित्र एक कतरन भेजते हैं। उसमें यह लिखा है—

"कुछ दिन हुए ( सन् १९२४ के अखीर या २५ के शुरूमें ) चीन देशमें रहनेवाले २५ अमेरिकन पादरियोंने पेकिनके अमेरिकन मंत्रीके पास निम्नलिखित विनय पत्र भेजा था—

'निम्नलिखित अमेरिकन पादरी चीन देशमें भ्रातृत्व और शान्ति धर्मके प्रचारकके रूपमें रहते हैं। हमारा काम है स्त्रियों और पुरुषोंको ईसाके उस नये जीवनमें लाना जिससे बन्धुत्वका प्रचार होता है और युद्धके अवसर ही जाते रहते हैं। इसलिए हम अपनी हार्दिक अभिलाषा व्यक्त करते हैं कि किसी भी प्रकारका सैनिक दबाव, विशेष करके कोई भी विदेशी सैनिक शक्तिका उपयोग, हमारे या हमारी सम्पत्तिके रक्षार्थ न किया जाय। अगर हम कुछ शासन-विरुद्ध पुरुषोंके हाथ कैद हो जायँ या वे हमें मार हो डालें तो भी हमें छुड़ानेके लिए न तो सेनाएँ भेजी जायँ, न रुपया ही चुकाया जाय, और न दण्ड-स्वरूप धन ही माँगा जाय। ऐसी स्थिति हमने इसलिए पसन्द की है कि हमारा विश्वास है कि सत्य और शान्तिकी स्थापनाका उपाय यही है कि हम सभी दशाओंमें सभी व्यक्तियोंके साथ प्रेम-व्यवहार करें, चाहे वे हमें कष्ट ही क्यों न देते हों और हम उसका बदला न चुकायें।' अमेरिकन मंत्रीने उत्तर दिया कि 'चीन देशमें अमेरिकनोंकी रक्षाकी आवश्यकताके लिहाजसे यह विनय असंगत है, इसलिए जरूरी मौकों-पर न तो ऊचित काररवाई करनेमें किसीके प्रति कुछ छूट करना सम्भव है, न की ही जायगी।'

यह उन उदाहरणोंमेंसे है जब दो परस्पर विरोधाभासकी बातें भी एक साथ सही होती हैं। उन बहादुर पादरियोंके लिए दूसरी स्थिति संभव ही न थी, मगर इन दिनों बहुत कम लोग उसे स्वीकार करते हैं। यह भी तो शायद चीन देशकी ही बात है कि कोई तीस साल हुए, पादरियोंके एक दलने लार्ड सैलिसबरीके यहाँ हाजिर होकर उनसे प्रार्थना की थी कि अनिच्छुक चीनियोंके पास हमें अपना संदेश पहुँचानेके लिए आप हमें अंग्रेजी सरकारकी सेनाकी सहायता दीजिये। तब उस स्वर्गीय सज्जन लार्डको कहना पड़ा था कि अगर आप अंग्रेजी सेनाकी संरक्षा चाहते हैं तो आपको अन्तरराष्ट्रीय—संबंधके नियमोंको भी मानना होगा और अपने धर्म-प्रचारोत्साहको कुछ दबाना होगा। उन्होंने पादरियोंको यह याद दिलाया कि प्राचीन कालके पादरी लोग दुनियाँके किसी भी किनारेपर जाते थे मगर सिवाय

ईश्वरके और किसीसे रक्षाकी उम्मीद नहीं रखते थे और अपनेको बराबर खतरेमें डाले रहते थे। न्यूयार्कके 'नेशन' के दिये हुए उदाहरणमें, ये पादरी, इस समाचारके अनुसार, पुरानी पद्धतिपर लौट गये हैं। अमेरिकन सरकारकी जबतक यही सूरत है तबतक तो वह यही जवाब दे सकती है, जो उनका जवाब देना कहा जाता है। यह दूसरी ही बात है कि उस एकमात्र जवाबसे वर्तमान पद्धतिका दोष झलकता है। अमेरिकन सरकारकी प्रतिष्ठा उसकी नैतिक ताकतपर निर्भर नहीं है। यह उसकी पशु-शक्तिपर निर्भर है। किन्तु अमेरिकाके नाम मात्रके नाम और मानकी रक्षाके लिए उसकी सारी सैनिक-शक्तिका संग्रह ही क्यों किया जाय? इससे अमेरिकाकी इज्जतमें कौन-सा बट्टा लग जायगा, अगर २५ अमेरिकन बिना बुलाये अपना संदेश सुनाने चीन देशमें जायँ और वहाँ मार डाले जायँ? उसके उद्देश्यके लिए शायद सबसे बेहतर बात यही होती। आप बीचमें पड़कर अमेरिकन सरकारको कष्ट-सहनके नियमकी पूर्तिमें बाधा ही डाल सकती है। किन्तु अमेरिका अगर आत्म-संयम करे तो उसका अर्थ होगा कि दृष्टिकोण ही बिलकुल बदल गया है। आज नागरिकताकी रक्षाका अर्थ है, कौमी तिजारतकी रक्षा—जिसका दूसरा नाम है लूट-खसोट। उस लूट-खसोटमें यह बात पहले ही मान ली जाती है कि अनिच्छुक लोगोंके ऊपर अपनी तिजारत लादनेमें हम समर्थ हैं। इसलिए एक अर्थमें कौमें मानों लुटेरोंका गिरोह बन गयी हैं जब उन्हें स्त्री-पुरुषोंकी वह शान्त जमायतें होना चाहिये था, जिनमें वे मनुष्य-जातिके साधारण हितके लिए एकत्र हुए हों। इस दूसरी हालतमें उनकी ताकत गोले बारूदके व्यवहार-नैपुण्यपर निर्भर नहीं करती, किन्तु ऊँची नीतिमत्तापर। उन २५ पादरियोंका काम पुनः संघटित समाज या पुनः संघटित राष्ट्रोंतककी धूमिल छाया है। मुझे यह नहीं मालूम कि उन्होंने जीवनके सभी अंगोंमें अपने सिद्धान्तका पालन किया था या नहीं। यह बतलानेकी जरूरत मुझे बिलकुल नहीं है कि उनकी इच्छाके विरुद्ध भी उनकी रक्षा करनेकी अमेरिकन सरकारके धमकी देते रहनेपर भी बदला लेनेके सभी प्रयत्नोंका वे जवाब दे सकते थे—बल्कि उन्हें विफलतक कर सकते थे। मगर इसका अर्थ होगा, अपनी हस्तीको बिल्कुल गायब कर देना। अगर किसीको ताकतकी जंजीर तोड़नी हो तो वह उन्हीं तरीकोंसे हो सकेगा जो आजके केवल पशु-शक्तिके पुजारियोंके तरीकोंसे बिल्कुल भिन्न हों। इसे भुलाया नहीं जा सकता कि आजके पशु-शक्तिके पूजनमें भी एक तत्व है और उसका समर्थक उसका एक इतिहास भी है। अगर उन्हें अहिंसामें अटल विश्वास हो तो उनके पक्षपातियोंके, जो बहुत छोटी संख्यामें हैं, उससे डरनेकी कोई जगह नहीं है, किन्तु इस बातमें किसी कारण विश्वासकी कमी मालूम होती है कि पशु-शक्तिके बिना भी समाज संगठन कायम रखा जा सकेगा। मगर अगर केवल एक आदमी सारे संसारका विरोध कर सकता है तो दो या दोसे अधिक आदमी मिलकर क्यों न करें? मैं जानता हूँ कि इसका क्या जवाब दिया गया

है। हम लोगोंमें जो क्रान्ति धीरे धीरे हो रही है, उसकी शक्तियोंका पता केवल समय ही बतलावेगा। जहाँ काम शुरू हो गया है वहाँ फलका अन्दाज लगाना व्यर्थका प्रयास होगा। जिनमें विश्वास होगा वे उस प्रारम्भिक स्थितिमें ही अपना काम शुरू कर देंगे—जब कुछ दिखलाने लायक फल नहीं जतलाये जा सकते।

हिन्दी नवजीवन

२१ अक्तूबर, १९२६

❀

"परमेश्वरकी व्याख्याएँ अगणित हैं, क्योंकि उसकी विभूतियाँ भी अगणित हैं। विभूतियाँ मुझे आश्चर्य-चकित तो करती हैं, मुझे क्षण भरके लिए मुग्ध भी करती है, पर मैं तो पुजारी हूँ सत्य-रूपी परमेश्वरका। मेरी दृष्टिमें वही एक मात्र सत्य है, दूसरा सब कुछ मिथ्या है। पर यह सत्य अभी तक मेरे हाथ नहीं लगा है; अभी तक तो मैं उसका शोधक मात्र हूँ। हाँ, उसकी शोधके लिए मैं अपनी प्रियसे प्रिय वस्तुको भी छोड़ देनेके लिए तैयार हूँ; और इस शोधरूपी यज्ञमें अपने शरीरका भी होम देनेकी तैयारी कर ली है।"

—गांधीजी

❀

# अहिंसा—(२)

सेठ अम्बालालके द्वारा कराये गये ६० कुत्तोंके नाशको अनिवार्य समझने तथा उसे प्रकाशित करनेमें मैंने भूल भले ही की हो, लेकिन इस किस्सेसे अबतक तो मैं लाभ ही होता हुआ देख रहा हूँ। ऐसे प्राणियोंके प्रति हमारा क्या धर्म है सो हम अब शायद अधिक स्पष्ट रूपसे समझेंगे। अभीतक अयोग्य होते हुए भी, बिना समझे-बूझे दम्भमें और लोकलाज वश काम चलता आया है; अब कुछ अधिक स्पष्टता हो जायगी।

लेकिन उसके होनेके लिए पाठकों तथा मेरे बीच कुछ सफाई हो जानी जरूरी है। मेरे नाम इस विषयमें ढेरों पत्र आये हैं; इसमेंसे कोई मीठा, कोई तीखा और कोई कड़ुआ है। उन पत्रोंसे मुझे प्रतीत होता है कि मित्र भी सेठ अम्बालालके कार्यके विषयमें मेरा अभिप्राय नहीं समझ सके हैं। मेरे नसीबसे मेरे जीवनमें हमेशा ऐसा ही होता चला आया है। दक्षिण अफ्रीकामें, अविचार-पूर्वक देखनेसे विरोधी मालूम होते हुए, लेकिन हकीकतमें केवल सिद्धान्तानुसार किये गये कार्यके हेतु, जो पीछेसे सिद्धान्तानुसार सिद्ध हुआ, मेरे निर्दोष होते हुए भी, मुझे अपनी जिन्दगीकी जोखमतक उठानी पड़ी थी। बारडोलीकी 'हिमालय वाली भूल' का स्मरण तो अभी ताजा ही है। बम्बई सरकारने मेहरबानी करके मुझे यरवदामें डालकर मेरा बहुत-सा स्याही कागज बचा लिया। बारडोलीके पास किये हुए प्रस्ताव मुझे आज भी भूल रूप नहीं मालूम हो रहे हैं; वरन् मैं इनको एक प्रौढ़ अहिंसाका तथा मूल्यवान सेवाका कार्य मानता हूँ।

उसी प्रकार इस (कुत्तेके) सम्बन्धमें भी जो मेरा अभिप्राय है उसके बारेमें मुझे मालूम हो रहा है। मुझे लगता है कि अहिंसामय होनेका दावा करते हुए भी इस अभिप्रायका समर्थन किया जा सकता है।

लेकिन शत्रु, मित्र, एवं सुहृद—सबको धैर्य रखनेकी जरूरत है। शत्रु-रूपसे लिखनेवालोंने मर्यादा त्याग दी है; उनके पत्रोंमें अविनय और रोष भरा हुआ है। उन्होंने मेरी स्थितिको समझनेका प्रयत्न नहीं किया। उन्हें मेरा अभिप्राय असह्य लगा है। या तो वे मुझे सुधारक तथा शिक्षक मानते हैं या वे मुझे शिक्षा देनेकी आशा रखते हैं। यदि वे मुझे शिक्षक मानते हों तो उनको विनय, शान्ति और श्रद्धासे पूछना चाहिये और जो मैं लिखूँ उसका उन्हें मनन करना चाहिये; जो वे मुझे शिक्षा देना चाहते हों तो मेरे ऊपर दया करके, प्रेम तथा धीरजके साथ मीठे शब्दोंमें मुझे समझावें। अपनी संरक्षामें रहनेवाले बालकोंको मैं क्रोधसे कुछ सिखा नहीं सकता, बल्कि उनके ऊपर प्रेम करता हूँ, उनका अज्ञान सहन

करता हूँ, उनके साथ खेलता हूँ और उन्हें सिखाता हूँ। इसी ;सहनशीलता, इसी प्रेम, और इसी विनोदकी आशा मैं अपने क्रोधी शिक्षकोंसे करता हूँ। मैंने कुत्तेके विषयमें प्रस्तुत किया हुआ अपना आशय शुभ भावनासे तथा अपना धर्म समझ कर दिया है। अगर उसमें कोई त्रुटि हो तो शिक्षक लोग मुझे धीरजके साथ और दलीलोंसे समझावें। अगर वे क्रोध दिखलायेंगे या अनेक प्रकारके अप्रस्तुत प्रश्न करेंगे तो उससे मैं कैसे समझनेवाला हूँ?

एक भाई मुझसे कुअवसरपर मिलने आये। मैं अतिशय उद्यमी रहता हूँ—यह बात वे जानते थे। मेरे साथ उन्होंने संवाद किया, मुझे अपना कटु भाषण सुनाया तथा अपना क्रोध मुझपर ला उतारा। मैंने उन्हें विनोदमें तथा विवेक-पूर्वक जवाब दिया। उन्होंने उस वार्तालापकी एक पत्रिका भी बनाकर छपवायी है; उसकी एक प्रति मेरे पास पड़ी हुई है। इसमें सत्यकी मर्यादा नहीं है—फिर विनय कहाँका? उन्होंने उस संवादके छपवानेके लिए मुझसे नहीं पूछा और न मुझे बतलाया ही। इस प्रकारसे वे मुझे किस प्रकार सिखा सकते हैं? जो सत्यको छोड़ता है, वह अहिंसाकी जड़ काटता है।

लेकिन शत्रु-भावसे बर्ताव करनेवाले भी मेरे ऊपर उपकार कर रहे हैं। वे मुझे अपना अंतःकरण खोजना सिखा रहे हैं। क्रोधकी प्रतिक्रियासे मैं बच गया हूँ या नहीं—इस बातको देखनेका मुझे मौका मिलता है। और अगर मैं उनके क्रोधका मूल खोजता हूँ, तो उसकी तहमें प्रेम ही पाता हूँ। उन्होंने मुझमें अपनी समझके अनुसार अहिंसा मान रखी है। अब उनको उलटा दिखायी देता है। इसीलिए वे क्रोध करते हैं। कारण यह है कि वे मुझे महात्मा मानते थे। लोगोंपर उनको रुचनेवाला मेरा प्रभाव पड़ता हुआ देखकर वे प्रसन्न रहते थे। अब मैं उनको अल्पात्मा लगता हूँ। मेरे प्रभावको वे कुप्रभाव जानकर दुःखी होते थे। उन्होंने क्रोधको जीतना नहीं सीखा। इसीलिए वे इस दुःखको क्रोधमें परिणत करते हैं।

इस क्रोधका मैं स्वागत करता हूँ। उसके पीछे जो भाव है, उसे मैं समझता हूँ। उनको समझानेका प्रयत्न करूँगा। उस प्रयत्नमें सहायता करनेके लिए मैं उनसे विनती करता हूँ कि वे क्रोधको शान्त करें। उनके क्रोधको मैं समझ गया हूँ। मैं सत्यका पुजारी तथा शोधक हूँ। जो मेरी भूल हुई होगी तो मैं देखूँगा और चूँकि भूलको कबूल करना मुझे प्रिय है इसलिए तुरंत कबूल करके उसे सुधार लूँगा। शास्त्रका वचन है कि सत्यवादी एवं सत्याचरणीकी भूलोंसे भी जगतको क्षति नहीं पहुँचती। सत्यकी महिमा ऐसी है।

मित्रों और सुहृदोंके लिए बस इतना ही कहूँगा।

मैंने आपके पत्र इकट्ठे कर लिये हैं। बहुतोंको तो मैं सामान्यतया

व्यक्तिगत रूपसे उत्तर दे रहा हूँ। लेकिन इस विषयमें इतने लोगोंके और इतने लम्बे लम्बे पत्र आये हैं कि उनका सविस्तार उत्तर देना अशक्य है। उनकी पहुंच तक दे सकनेका अवकाश मेरे पास नहीं है।

कितने एक लेखक तो अपने पत्रोंको 'नवजीवन' में प्रकाशित हुआ देखना चाहते हैं। इस बोझसे वे मुझे बरी कर दें। उनकी की हुई दलीलोंका उत्तर यथाशक्ति और यथामति देनेका प्रयत्न अवश्य करूँगा। आप लोग इतने ही से संतोष मान लें—मैं इतना ही आपसे माँग लेना चाहता हूँ।

पाठकगण इतनी लम्बी प्रस्तावनाको आवश्यक समझ कर क्षमा करें। अब हम विषयके ऊपर आ जायं—फिलहाल तो मैं अपने पास पड़े हुए पत्रोंपर विचार करके ही सन्तोष मानूँगा।

एक भाई लिखते हैं—

"आप कुत्तेको खाना देनेके लिए मना करते हैं, लेकिन मैं उनको बुलाने तो नहीं जाता—वे तो खुद-बखुद आ जाते हैं और खड़े रहते हैं। उनको कैसे मार भगावें? जब बहुतसे कुत्ते आ जायंगे, तब वैसा देखा जायगा। कुत्तेको खाना देनेमें दयाभावकी शिक्षा मिलती है और न देनेसे मनुष्य निष्ठुर बनता है। पापमें तो हम डूबे पड़े हैं, फिर इतना धर्म हमसे क्यों नहीं किया जाता?"

इस प्रकार दयात्मक दिखाई देनेवाले विचारोंके कारण ही हम लोग दया धर्मके नामपर हिंसाको अनजानमें उत्तेजन देते रहते हैं। लेकिन जिस प्रकार लौकिक राजाके कानूनमें अपराधी अज्ञानके कारण दण्डसे बचता नहीं है, वही हाल अलौकिक राजाके नियमोंका भी है।

हम जरा उक्त शंका करनेवालेके विचारकी निरीक्षा करें। घरपर भिखारीके आनेपर उसे रोटी देते हैं और समझते हैं कि हमने पुण्य किया। इस प्रकार बहुत अंशमें हम भिखारियोंके सम्प्रदायको बढ़ाते हैं, आलसको उत्तेजन देते हैं और इस कारण अधर्मकी वृद्धि करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि सच्चे भिखारियोंको मरने दिया जाय। जो अपंग या अपाहिज हैं, उनको पोषण करना समाजका धर्म है। लेकिन प्रत्येक मनुष्य यह काम अपने उत्तरदायित्वपर न करे, समाजके अधिकारी यानी महाजन लोग—स्वराज्य हो तो राजा—यह काम करता है। और दयालु सज्जन ऐसी संस्थाको दान देते हैं। यदि महाजन पवित्र तथा ज्ञानवान् होगा तो उद्योगके साथ प्रत्येक व्यापारी भिखारीके बारेमें पूछताछ करके अगर वह पात्र होगा तो उसे आश्रय देगा। ऐसा न होनेसे भिखारीके बहाने चोर और लम्पट पुरुष पैसा कमाते हैं और देशमें भुक्खड़पन घटनेके बदले बढ़ता है।

जिस प्रकार भिखारी मनुष्यको खाना देनेमें पाप है, उसी प्रकार भटकते

कुत्तेको भी टुकड़ा डालनेमें पाप है—उसमें कुत्तेके प्रति भूठी दया है। क्षुधा पीड़ित कुत्तेको रोटीका टुकड़ा देनेमें कुत्तेका अपमान है। बेघरका कुत्ता समाजकी सभ्यता या दयाका चिन्ह नहीं है; बल्कि समाजके अज्ञान तथा आलस्यका।

जानवर लोग अपने भाई-बन्ध हैं। इनमें मैं सिंह, बाघ इत्यादिको भी गिनता हूँ। हमलोगोंको सिंह, सर्प आदिके साथ रहना नहीं आता—यह हमारी शिक्षाकी त्रुटिके कारण है। जब मनुष्य उनको अधिक अच्छी तरह पहिचानेगा तब प्राण-घातक जीवों तकको पालना सीखेगा। आज तो विधर्मी अथवा विदेशी मनुष्यको भी अपनाना मनुष्यने नहीं सीखा है।

कुत्ता तो वफादार साथी है। कुत्ते और घोड़ेकी स्वामि-भक्तिके दृष्टांत जितने चाहिये, उतने मिल सकते हैं। इसलिए जिस तरह अपने साथीको हम इधर उधर भटकने फिरने नहीं देते बल्कि उसे आदरपूर्वक रखते हैं, वही बात कुत्तेके बारेमें भी होनी चाहिये। भटकते-फिरते कुत्तोंके सम्प्रदायको बढ़ा कर हम कुत्तेके प्रति अपना फर्ज अदा नहीं करते।

लेकिन अगर दर-दर मारे फिरते कुत्तोंकी हस्तीको हम पाप समझते हैं और इसलिए उनको खानेको नहीं देते, तो हम कुत्तोंकी सेवा करते हैं और उनको सुखी रखते हैं।

इसलिए वे आदमी जो कुत्तेके प्रति भी दया-धर्म पालना चाहते हैं वे क्या करें? उन्हें कुत्तों इत्यादिका भाग अपनी आमदनीमेंसे निकाल कर उस भागका उपयोग जानवरोंकी संस्थाओंको दे देना चाहिये। अगर ऐसी संस्था शक्य नहीं हो—और मेरा ख्याल तो यह है कि ऐसी संस्था शक्य होते हुए भी बहुत मुश्किल है—तो उन्हें एक या अधिक कुत्तोंके पालनेका प्रयत्न करना चाहिये। अगर यह भी न कर सकें तो उन्हें कुत्तोंका प्रश्न छोड़ देकर अपने जीवदयाभावका अमल अन्य प्राणियोंके विषयमें करना चाहिये।

"लेकिन आपने तो उन्हें मारनेकी बात कही है!"—इस प्रकारके प्रश्न अनेक पत्र लेखक—कोई आवेशमें और कोई प्रीतिसे—पूछते हैं। मैंने कुत्तोंके मारनेका कोई स्वतंत्र धर्म नहीं बतलाया है; मैंने तो आपद्धर्म ही बतलाया है। मैंने शर्तवाला धर्म सुझाया है। अगर कुत्तोंकी रक्षा राजा न करें। महाजन भी न करें जो वे खुद न पालें और कुत्तोंसे दुःख पावें और कुत्तोंकी भेंट चढ़नेके लिए तैयार न हो, तो कुत्तोंको मारकर उन्हें तथा अपनेको पीड़ा और भयसे मुक्त करें। यह औषधिकी पुड़िया कड़ुवी है, लेकिन मेरा अन्तरात्मा कहता है कि उसमें शुद्ध प्रेम और दया है।

कुत्तोंकी आजकी स्थिति हिन्दुस्तानके दुबले पशुओं तथा मनुष्योंके

जसी है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यह शोचनीय परिणाम हमारी अहिंसा धर्मकी अभिज्ञताके कारण—अहिंसाके अभावके कारण हुआ है। धर्मका फल पामरता, दरिद्रता, दुष्काल इत्यादि हर्गिज नहीं है। अगर यह देश पुण्य-भूमि हो तो जो आज हम दारिद्रय-पीड़ित लोगोंको अपने चारो ओर पाते हैं, सो नहीं हो सकता। उसमेंसे कई उतावले और अधीर लोगोंने इस आशयका सार निकाला है कि अहिंसा-धर्म झूठा नहीं, बल्कि उसके पुजारी झूठे हैं।

अहिंसा क्षत्रियका धर्म है। महावीर क्षत्रिय थे। बुद्ध क्षत्रिय थे। वे सब, थोड़े या बहुत, अहिंसाके उपासक थे। हम उनके नामपर भी अहिंसाका प्रवर्तन चाहते हैं। लेकिन इस समय तो अहिंसाका ठेका भीरु वैश्य वर्गने ले रखा है इसलिए वह धर्म निस्तेज हो गया है। अहिंसाका दूसरा नाम है क्षमाकी परिसीमा। लेकिन क्षमा तो वीर पुरुषका भूषण है। अभयके बिना अहिंसा नहीं हो सकती; हम लोग तो जीवदयातक नहीं जानते !

गायको हम बचा नहीं सकते, कुत्तोपर लात मारते और लाठी बरसाते हैं, उनकी पसलियाँ तक दिखायी देती हैं - इनकी हमको शर्म नहीं है, लेकिन अगर कुत्ता मरे तो हमारे रोंगटे खड़े होते हैं। पाँच हजार कुत्ते भूखे तरसते-फिरते रहें, जूठन और मैला खायँ और मरनेके बदले जियें—वह सब अच्छा या उनमेंसे पचास मरें और शेष सुरक्षित रहें सो अच्छा ? लकड़ी मार कर कुत्तोंको बाहर कर देना तो पाप है ही। लेकिन यह दुःख न देख सकनेवाला एक या अधिक कुत्तोंको मार डालनेमें पुण्य करता है—यह बात मुमकिन हो सकती है।

जीव लेना हमेशा हिंसा नहीं है। या यों कह लीजिये कि अनेक अवसरों-पर जीव न लेनेमें अधिक हिंसा है। इस वाक्यको आगे चल कर देखूँगा।

हिन्दी नवजीवन
२८ अक्तूबर, १९२६

❀

"परमेश्वर 'सत्य' है, यह कहनेके बजाय 'सत्य' ही परमेश्वर है यह कहना अधिक उपयुक्त है।"

—गांधीजी

# अहिंसा—(३)

आइये विचारसे इसका पता लगावें कि जीव लेना धर्म हो सकता है या नहीं।

अगर किसी तरह इस देहको हम खड़ा भी रखें तो भी हमें जीव तो लेना ही पड़ेगा; जैसे भोजनके लिए अन्न, फल, वनस्पति आदि और जन्तुनाशक पदार्थों द्वारा मच्छरों आदिका जीव लेना होगा और हम यह भी जानते हैं कि ऐसा करनेमें अधर्म नहीं है।

यह तो अपने व्यक्तिगत स्वार्थके लिए हुआ। परमार्थके लिए हम हिंसक प्राणियोंका नाश करते हैं या दूसरोंके द्वारा करवाते हैं। सिंहादि जब गाँवोंमें ऊपर होते हैं तब उनका नाश करना समाज अपना धर्म समझता है।

ऐसा भी होता है कि मनुष्य-वध तकको धर्म समझा जाय। पागलपन या नशेमें एक आदमी नंगी तलवार लेकर जो कोई नजर आवे उसे काटता चला जाता है। उसे जिन्दा पकड़ लेनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। उसे जो आदमी मार सकेगा वह परोपकारी गिना जायगा। अहिंसाकी दृष्टिसे उसे मारनेका धर्म सभी किसीको प्राप्त है। हाँ, एक प्रसंग इसमेंसे बाद कर सकते हैं। जो मुनि उसके नशेको उतार सकें, वे उसे न मारें। किन्तु हम तो यहाँतक सम्पूर्णताको पहुँचे हुए मुनियोंके धर्मका सवाल नहीं छोड़ते। हमें समाजके धर्म और समाजमें रहनेवाले राग-द्वेषादियुक्त व्यक्तियोंके धर्मका विचार करना है।

ऊपरके दृष्टान्तके विषयमें मतभेद भले ही हो, अगर यह दृष्टान्त अपूर्ण जँचे तो दूसरे पूर्ण दृष्टान्तकी कल्पना हम कर ले सकते हैं। किन्तु किसी भी अवस्थामें जीवन लेनेका एकांगी धर्म सिद्ध नहीं हो सकता।

सच्ची बात तो यह है कि अहिंसाका धर्म केवल इतना ही नहीं है कि 'जीव न मारो'। क्रोध अथवा स्वार्थके वश होकर किसी व्यक्तिका अनिष्ट करनेके इरादेसे उसे दुख देने या उसके देहका नाश करनेका नाम हिंसा है। ऐसा न करना ही अहिंसा है।

वैद्य कड़वी दवा देता है। वह दुःख देता है किन्तु हिंसा नहीं करता कड़वी दवा देनी ही चाहिये और अगर न दे तभी वह अहिंसा धर्मके पालनमें चूकता है। शस्त्रवैद्य (जर्राह) अगर दुःख देनेके भयसे सड़ा हुआ हाथ नहीं काटता है तो वह हिंसा करता है। अपनी रक्षामें रहनेवाले बालकके ऊपर (जो हमसे रक्षाकी आशा रखता है) चढ़ आये हुए खूनीको (अगर दूसरी तरहसे उसका

उपद्रव न रोका तो) जो मारता नहीं वह पुण्य नहीं करता, पाप करता है, वह अहिंसा धर्मका पालन नहीं करता किन्तु मोहवश होकर अहिंसाके नाममें हिंसा करता है। सामाजिक अहिंसा-धर्म ऐसा ही होता है।

अब हम अहिंसाके मूलकी खोज करें। उसके मूलमें निःस्वार्थता है। निःस्वार्थताका अर्थ है देहाभिमानका सर्वथा अभाव। देहाभिमान यानी देहाध्यासको लेकर मनुष्यको छोटे-मोटे अनेक देहोंका नाश करते हुए किसी ऋषि मुनिने देखा। मनुष्यके गूढ़ अज्ञानको देखकर ऋषिका दिल काँप उठा। उन्होंने देखा कि देहके आचरणसे मनुष्य अपने हीमें रहनेवाले अमर आत्माको भूल जाता है और आत्माके मंगल-साधनके बदले अपने क्षणिक देहका काम साधता है। इस प्रकार ऋषिने सर्वस्वके सम्पूर्ण त्यागकी आवश्यकता देखी। उन्होंने देखा कि मनुष्य अगर आत्मा यानी सत्यका दर्शन करना चाहता है तो उसके लिए एकमात्र समुचित मार्ग है देहका त्याग कर देना। इसका अर्थ हुआ दूसरे जीवोंको अभय-दान देना। यह अहिंसाका मार्ग है।

ऐसा विचार करनेसे दूसरे जीवोंका नाश करनेमें पाप नहीं मालूम होता, किन्तु पाप है अपनी देह पर मुग्ध होनेमें, क्षणिक देहके लिए दूसरे जीवोंका नाश करनेमें। इससे आहारादिके कारण मनुष्य जो जीवनाश करता है, उसमें देहाध्यास है और इसलिए हिंसा है। परन्तु उसे अनिवार्य समझकर मनुष्य निबाहता है। किन्तु दुःखसे पीड़ित प्राणीकी देहका नाश, उसकी शान्तिके लिए किया जाय तो हिंसा-दोषमें नहीं गिना जायगा। या अपने रक्षणमें रहनेवालेकी रक्षाके लिए किया गया अनिवार्य वध हिंसा दोषमें नहीं गिना जायगा।

इस विचार-श्रेणीका बहुत कुछ दुरुपयोग होना संभव है। उसका कारण विचार-दोष नहीं है किन्तु देहके प्रति मोहके कारण अपने आपको धोखा देनेके लिए जो कोई बहाना मिल सके उसका झट उपयोग कर लेनेकी हमारी आदत ही उसका कारण है। किन्तु इस दुरुपयोगके भयसे सत्य हकीकतको छिपानेसे अहिंसा-मार्गको स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

इस चित्रसे अहिंसाका जो सार निकलता है, वह यह है—

(१) इस जगतमें कोई भी देहधारी, कुछ अंशमें हिंसा किए बिना अपनी देहको टिकाये नहीं रह सकता।

(२) सभी कोई (क) अपनी देहकी रक्षाके लिए (ख) अपने रक्षणीयकी रक्षाके लिए (ग) कभी-कभी उन्हीं जीवोंको शान्ति देनेके लिए—अनेक जीवोंका वध करते हैं।

(३) अहिंसाकी व्याख्याके अनुसार (क) और (ख) में थोड़ी बहुत हिंसा

तो भरी हुई है ही । (ग) में हिंसादोष बिल्कुल नहीं है । इससे वैसा बध सर्वांशमें अहिंसक है । वैसे ही (क) और (ख) का भी हिंसक होना अनिवार्य है ।

(४) इसलिए (क) और (ख) में समायी हुई हिंसा, ऊर्ध्वगामी अहिंसावादी मनुष्य कमसे कम प्रमाणमें, जब उससे छुटकारा न मिल सके तभी और खूब समझ बूझकर—दूसरे सब उपाय कर चुकनेके बाद ही करेगा ।

मेरा बतलाया हुआ कुत्तोंका बध चौथे प्रकारकी हिंसा है । इससे वह जब अनिवार्य हो, उसके बिना चलता ही न हो तब पुख्ता विचारके बाद ही किया जा सकता है । किन्तु इस विषयमें मुझे शंका नहीं है कि जब वह अनिवार्य हो जाय तब उसे न करनेमें ही विशेष दोष है । इससे कुत्तों इत्यादिको मारना व्यापक धर्म तो नहीं हो सकता मगर खास स्थितिमें खास समय खास आदमीके लिए आवश्यक हो सकता है ।

अब इतना विचार करनेके बाद जितने पत्र आये हैं उनके प्रश्नोंका सिलसिलेवार उत्तर देनेका प्रयत्न करता हूं । कई एक भाई अपने पत्रोंका व्यक्तिगत उत्तर मांगते हैं और वह न मिलनेपर अपने विचार समाचार-पत्रोंमें छपा देनेकी धमकी देते हैं । व्यक्तिगत जवाब देना मेरी शक्तिके बाहर है । जिनको जवाब देना है, वह यहीं, इस पत्रमें ही दिया जा सकता है । जिन्हें दूसरे पत्रोंमें इसकी चर्चा करनी हो,उन्हें रोकनेका मुझे जरा भी अधिकार नहीं है, इच्छा भी नहीं है। पत्र-लेखकोंको मैं याद दिला देता हूं कि धर्म-चर्चामें धमकी या अधीरताको कोई स्थान नहीं है ।

एक भाई लिखते हैं कि "५७ वर्षकी उम्रमें आपको कुत्तोंको मरवानेका धर्म कहाँसे सूझा ? अगर पहले ही सूझा था तो अबतक मुंहमें दही जमाए हुए क्यों थे ?"

मनुष्यको जब सत्य सूझता है तभी उसे बतलाता है, वृद्धावस्थामें सूझा तो भी क्या ? प्रसंग उपस्थित होनेपर तो उसे जाहिर करना ही पड़ता है ।

मर्यादित रूपसे प्राणियोंके मारनेका धर्म तो बहुत सालसे स्वीकार किये हूं । प्रसंग पड़नेपर मैंने उसका अमल भी किया है । गाँवोंमें अनजान भटकता हुआ कुत्ता अगर भागे नहीं तो उसे मारनेका धर्म तो माना ही हुआ है । कारण यह है कि गाँवोंमें लोगोंने अपने कुत्ते पाल रखे हैं । वे कुत्तोंको भगाते हैं और वे अगर न भागें तो उन्हें मार डालते हैं । ऐसे रखवालीके कुत्ते तो गाँववाले जान बूझकर पालते हैं । ये गाँवके कुत्ते केवल दूसरे कुत्तोंको मारते ही नहीं हैं किन्तु चोरों इत्यादिपर भी हमला करते हैं । कुत्तोंका उपद्रव तो सिर्फ शहरोंमें ही चलता है । बेमालिक कुत्तोंको न रहने देना ही इसका एकमात्र उपाय है । इसमें कुत्तोंका कमसे कम नाश होता है और शहरवालोंकी रक्षा होती है ।

एक-दूसरे पत्र-लेखक लिखते हैं कि "अहिंसा जैसी वस्तुकी चर्चा दलीलसे करके आप कौन-सा धर्म सिखाना चाहते हैं?"

इस उलाहनेमें भी कुछ रहस्य है। मुझे तो किसीको कुछ सिखलाना न था। किन्तु अहिंसा धर्मका पालनेवाला होनेके कारण, प्रसंग आनेपर मुझे अपने विचार प्रकट करने ही पड़े। मैंने ऐसा अनुभव अनेक बार किया है कि धर्मकी चर्चामें न्यायशास्त्र और दलीलका स्थान है तो मगर बहुत छोटा सा।

हिन्दी नवजीवन
४ नवम्बर, १६२६

❀

"धर्मका उद्देश्य तो है बन्धुत्वको बढ़ाना, मनुष्य-मनुष्यमें जो कृत्रिम भेद है, उसको कम करना। लेकिन आज उसीके नामपर अछूतोंके साथ घृणित व्यवहार हो रहा है। मैं कह चुका हूँ कि असत्य स्वयं कमजोर है, परतंत्र है। बिना सत्यके आधारके वह खड़ा ही नहीं रह सकता। लेकिन मैं आपको यह बतलाना चाहता हूँ कि सत्यके नामपर अगर असत्य भी इतना विजयी हो सकता है, तो स्वयं सत्य कितना होगा? इसकी नाप कौन लगा सकता है?"

—गांधीजी

## अहिंसा—(४)

एक भाई एक लम्बा पत्र लिखते हैं। उसमें उन्होंने अपनी कठिनाइयां प्रकट की हैं। और बादको उन्होंने, श्रावक होकर जैन धर्म क्या सिखलाता है— सो लिखा है। उस पत्रमें से एक प्रश्न नीचे दिया जाता है—

"आपने लिखा है कि भटकते फिरते कुत्तेको पाला जा सकता है। अगर न पाला जा सके तो कुत्तोंका पींजरा-पोल बनाना चाहिये। अगर इन दोमेंसे एक भी न हो सके, तो (उपर्युक्त दोनों उपायोंके संभव न होते हुए) भटकते हुए कुत्तोंमात्रको मार डालना चाहिये।" आपके उस लेखका यही आशय है न ?

"उत्तरमें यदि आप 'हाँ' कहते हैं तो अनेक हानिकारक पशुओं, पक्षियों एवं जन्तुओंको—जहाँतक वे मानव-जीवनमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डालते, तहाँतक कोई मारता नहीं है। उन कुत्तोंको भी, जो हमारा कोई हर्ज नहीं करते, भविष्यमें उनके नुकसान पहुँचानेके ख्यालसे, मार डालनेके क्या मानी हैं ? प्राणिमात्रका भला चाहनेवालेसे भला कहीं ऐसा हो सकता है ?"

यह प्रश्न इसलिए उठता है कि मेरा आशय समझा नहीं गया है। पागल कुत्तोंतकको, महज मारनेकी खातिर, मार डालनेकी बात तो मैंने लिखी नहीं है, तो फिर भटकते कुत्तेकी बात ही क्या? भटकते हुए कुत्तोंको देखते ही उन्हें मार डालना चाहिये—सो मैंने नहीं लिखा है। मैंने तो उस प्रकारका नियम बना लेनेकी बात लिखी थी। अगर ऐसा नियम बना लिया जाय, तो दयालु लोग सहजमें ही जाग्रत हो जायंगे और बेघरके कुत्तोंकी रक्षाके लिए कोई न कोई उपाय ढूँढ़ निकालेंगे। उनमेंसे बहुतसे तो पाल लिये जायंगे और बहुतसे एक स्थान पर इकट्ठे कर लिये जायंगे। इस प्रकारका उपाय एक ही समयमें करना पड़ेगा। भटकते कुत्ते कहीं आसमानसे नहीं उतरते। वे समाजके आलस्य, शिथिलता तथा अज्ञानके चिन्ह हैं। अगर कोई इधर उधर फिरते कुत्तेको रोटी न दे तो वह भाग जायगा। मेरे द्वारा सुझाये हुए उपायमें भी यद्यपि उसमें समाजका स्वार्थ अवश्य मौजूद है, कुत्तोंके भलेका ख्याल भी है। कोई भी प्राणी निराश्रय न रहने पाये—इसी बातकी इच्छा रखना तथा उसे करना दया धर्म करनेवालेका धर्म है। उसे पालनेके लिए किसी मौकेपर कुत्तोंका वध भी आवश्यक हो पड़ता है।

दूसरा प्रश्न यह है—

"जबतक कुत्तोंके द्वारा उपद्रव हो, तबतक उसी मनुष्यके हाथों कुत्तोंका मारा जाना तो ठीक है, लेकिन 'वे जबतक पागल नहीं हो जाते तबतक इन्तजार करनेमें दया

नहीं हैं—इसका अर्थ तो यह हो सकता है कि चूंकि कुत्तेमात्रको भविष्यमें पागल तो होना ही है, इसलिए उनकी अच्छी हालतमें भी उन्हें भी मार डालकर सचेतपनका काम करें। इस विषयमें सत्याग्रह-आश्रमवासी मेरे एक मित्रसे मुझसे बात-चीत हुई थी उन्होंने आपसे इस संबंधमें पूछा था और सुना जाता है कि आपने उनसे यह कहा था कि कुत्तोंको देखते ही ढूँढ़-ढूँढ़कर मारनेकी बात तो मैं कहता ही नहीं, और यह भी नहीं कि जब कुत्ते जीवनको खतरेमें कर दें, तब इस प्रकार संकटमें आ पड़नेपर तथा कोई दूसरा उपाय न दिखायी देनेपर, आखिर उन्हें मार डालना अनिवार्य है—आपके लेखोंसे यह आशय नहीं झलकता। तोड़-मरोड़ कर भी ऐसा अर्थ नहीं निकलता। तो आप और अधिक स्पष्टीकरण कर दें न?"

अपने पिछले लेखों तथा उपर्युक्त उत्तरको लिख चुकनेके बाद इस प्रश्नका अधिक स्पष्टीकरण शेष नहीं रह जाता। हाँ, इतना जरूर स्पष्ट कर देना चाहिये कि कुत्तेको हीनदशामें पहुंचने देनेकी राह न देखना चाहिये। भूखों मरते कुत्तेमात्र हानिकारक हैं। यह उपद्रव शहरोंमें ही प्रतीत होता है और उसे बन्द करना चाहिये। सर्पके द्वारा काटे जानेकी राह हमलोग नहीं देखते। कुत्ता जब काटे तभी वह पागल होता है—यह इसमें छिपा हुआ है। एक मित्रने मेरे पास कुत्तेके काटनेसे पीड़ित लोगोंके अंक भेजे हैं। वे यहाँ देने योग्य हैं। हिन्दसे अहमदाबादके सिविल अस्पतालमें, कुत्तों-काटेके इलाज करानेवाले रोगियोंकी बाबत हैं। उस अस्पतालमें न आनेवाले लेकिन उसी रोगसे पीड़ित लोग अन्य बहुतसे होंगे।

| समय (माह और सन्) | अहमदाबाद शहरके रोगियोंकी संख्या | अन्य शहरोंके रोगियोंकी संख्या | कुल संख्या (मीजान) |
|---|---|---|---|
| १९२५ जनवरीसे दिसम्बर | १९४ | ९२३ | १११७ |
| १९२६ जनवरीसे सितम्बर | २९५ | ६९५ | ९९० |

ये अंक प्रत्येक समाज-हितेच्छुके लिए चौंकानेवाले हैं—दयाधर्मीके लिए विशेष करके। मैं जानता हूँ कि जितनोंको कुत्ते काटते हैं उतने सब पागल नहीं हो जाते और बहुतसे लोग पागल सिद्ध होनेसे ही दहशत खाकर अस्पताल दौड़े जाते हैं। इस दहशतसे उनको छुड़ानेका केवल एक उपाय है—और वह यह कि भटकते हुए कुत्तोंका अस्तित्व न रहे। जब ४० वर्षके पहले विलायतमें भटकते कुत्तोंकी बाबत हलचल उठी थी, उस समय मैं वहीं था। वहां भटकते हुए कुत्ते कहांसे आये? लेकिन पाले हुए कुत्तोंके लिए वहां कानून बना हुआ है कि जिस कुत्तेके गलेमें पट्टा मय मालिकके नाम व पतेके न होगा और जिस कुत्तेके मुंहमें

जालीदार मुमती ( थूथनकी पट्टी ) न बँधी होगी वह मार डाला जायगा। यह कानून केवल दयाभावसे बनाया गया था। उसके परिणाम-स्वरूप दूसरे ही दिनसे लंदनमें कुत्ते मयपट्टे इत्यादिके दिखायी पड़ने लगे। थोड़े ही कुत्तोंको मारनेकी जरूरत पड़ी होगी। अगर किन्हींका ख्याल यह हो कि पच्छिमके लोग जीवदया जानते ही नहीं तो वे अज्ञानकूपमें पड़े हुए हैं। जीवदयाका आदर्श वहाँ नीचा है, लेकिन जो आदर्श है, उसका अमल वे लोग हमलोगोंकी बनिबस्त अधिक करते हैं। हमलोग तो आदर्श उच्चतासे ही संतोष पा जाते और उसके अमलके समय मंद या आलसी रहते हैं। हमलोग तामसिक वृत्तिमें पड़े हुए दिखायी देते हैं। देखिये हमलोगोंके लावारिस मनुष्यों, ढोरों तथा अन्य प्राणियोंको। यह धर्म नहीं बल्कि अधर्मकी निशानी है। तीसरा प्रश्न यह है—

"आप व्यक्तिगत और सामुदायिक धर्मकी व्याख्या अलग अलग करते हैं—सो तो मैं समझता हूँ। लेकिन व्यक्तिगत धर्मकी भांति सामुदायिक धर्मकी भी व्याख्या करनेमें क्या बुराई है? आदर्श तो सबके लिए सर्वश्रेष्ठ ही होना चाहिए न? न बन पड़े या बन सकना मुमकिन न हो—तो बात दूसरी है। और यह तो व्यक्तिगत धर्मके लिये भी इसी प्रकार लागू है। आपने ही कहा है कि क्रूर पशुको भी अपने प्राणको खतरेमें डालकर बचानेकी मेरी भावना है। लेकिन जब ऐसी स्थिति पैदा हो, उस समय मैं क्या करूँगा—सो नहीं कह सकता। यही दृष्टान्त सामुदायिक धर्मके अनुरूप किया जाय, तो दोनों धर्मोंकी व्याख्या पृथक पृथक करनेकी जरूरत ही फिर कहां रह जाती है?"

व्यक्तिगत और सामुदायिक धर्मकी व्याख्याको मैंने जुदा माना ही नहीं है। धर्मके सिद्धान्तकी व्याख्या एक ही होती है। लेकिन उसपर चलनेकी मर्यादा व्यक्तिके और उसी प्रकार समाजके लिए मैंने अलग ही मानी है। वास्तविक रीतिसे तो अमलकी मर्यादा प्रत्येक व्यक्तिके लिए भिन्न होती है। जब अहिंसा धर्म-संबधी उसकी व्याख्या एक ही होती है, सामुदायिक अमलकी मर्यादा सबकी औसत मिलाकर होती है। यानी जहां समुदायका एक भाग दूधाहारी हो और दूसरा फलाहारी, वहां सामुदायिक मर्यादा दूध-फलाहारीकी मानी जानी चाहिये जिसमें दोनों अपनी मर्यादामें रह कर चलें। इतने प्रश्नोंके अनन्तर लेखक दो जैन सिद्धान्तोंका निरूपण इस प्रकार करते हैं—

"जैन सिद्धान्तकी रचना 'स्याद्वाद' है, यानी दूसरे शब्दोंमें, उसे अनेकान्त भी कहते हैं। इसके समर्थनमें एक जैन गीतार्थके वचन नीचे लिखे अनुसार हैं—

'वचनसापेक्ष व्यवहार साचो कह्यो,
वचन निरपेक्ष व्यवहार झूठो।'

ये वचन कुछ बता रहे हैं कि संयोगके अधीन कोई काम अमुक स्थानपर हिंसा होती है और अन्य अवसरपर अहिंसा। मनुष्यको विवेकपूर्वक देख-भाल कर निर्णय करना

चाहिये। जैन शासनकी दो शाखाएं हैं—साधु और श्रावक। इनके धर्मकी व्याख्या नीचे लिखे अनुसार मानी गयी है—

"साधु—सर्वथा अहिंसक। अपने आपको बचानेके हेतु, खायेंगे भी नहीं और खानेके वास्ते खाना पकायेंगे भी नही। और सड़कपर कदम भी न बढ़ायेंगे। और अगर ऐसा करें भी तो परोपकार करनेके हेतुसे। लेकिन जितने दोषोंसे बन पड़े उतने दोषोंसे मुक्त रहकर। इन दोषोंकी संख्या ४२ मानी गयी है। साधुको जैन-दर्शनमें निग्रंथ कहा गया है—त्यागी और सर्वथा-त्यागी बतलाया है।"

**मेरा ख्याल है कि आज इस व्याख्या और इस कल्पनाके मुताबिक एक भी साधु नहीं हैं। (अगर हो तो मैं अपनी अल्प-शक्तिके कारण उसे जानता नहीं हूँ।)**

"श्रावक निरपराधी है। जिसकी उसे जरूरत न हो और जिसमें उसका स्वार्थ न हो ऐसे किसी भी जीवके प्राण वह नहीं लेता।"

"श्रावक संसारी है। शास्त्रकारोंका मत है कि इस हेतु वह अधिक दया-धर्मका पालन नहीं कर सकता। और उससे दयाकी मात्रा सोलह आनेमें—साधुकी सोलह श्रावककी आना भर—इस प्रकार निर्धारित की गयी है। अगर श्रावक इससे अधिक पाले तो उसे साधुवृत्तिमें उन्नति करता हुआ मानना चाहिये। लेकिन श्रावक-दशामें इससे अधिक पालना अशक्य ही है।"

**इस निरूपणसे मैं अपरिचित न था। मैंने तो यह लिखा ही है कि यहां दिये हुए जैन सिद्धान्तोंका मैं विरोधी नहीं हूँ। अगर उपर्युक्त निरूपण जैनोंको मान्य हो तो मेरा मतलब उसीमेंसे निकाला जा सकता है। लेकिन यह सिद्धान्त जैनोंको चाहे मान्य हो अथवा न हो, मेरी अल्पमति कहती है कि मेरे बतलाये हुए आशयका प्रतिपादन स्वतंत्र रीतिसे हो सकता है और हुआ भी है।**

हिन्दी नवजीवन
११ नवम्बर, १९२६

**"अहिंसा ही सत्येश्वरका दर्शन करनेका सीधा और छोटा सा मार्ग दिखाई देता है।" —गांधीजी**

# अहिंसा—(५)

एक मित्रने कई प्रश्न उठाये हैं और लम्बा लेख लिखकर उन्होंने अपनी अनेक शंकाएं बतायी हैं। उन्होंने शुद्ध भावसे शंकाएं उपस्थित की हैं। 'नवजीवन' के इस लेख-मालावाले अंक अपनी टिप्पणियोंके साथ उन्होंने भेजे हैं। मेरा ख्याल है कि उनके लेखमेंके अनेक प्रश्नोंका खुलासा तो अबतक हो ही गया होगा। तो भी आवश्यकतानुसार उनके प्रश्नोंका उत्तर यहीं देता हूँ।

मुझे मालूम होता है कि इस विषयमें मैं तटस्थतासे विचार कर रहा हूँ। हिंसाका पक्षपात मुझको हो ही नहीं सकता और न अपने मतका ही। मुझे पक्षपात सत्यका ही है और मैं अहिंसा मार्गसे सत्यका शोधन करता हूँ। मैंने अनुभव किया है कि दूसरे मार्गसे सत्यका पता नहीं लग सकता। सत्य है या नहीं, अहिंसा परम धर्म है या नहीं—मेरे निकट ये विवादग्रस्त विषय नहीं हैं। इस विषयमें अपने मनमें शंकाका होना भी मैं संभव नहीं मानता। किन्तु उसका पालन क्यों कर हो, यह प्रश्न मेरे पास हमेशा खड़ा रहता है। प्रतिक्षण नवीनताएं नजर आती हैं। उसके पालनमें भूलें होना भी मैं सम्भव मानता हूँ। उन भूलोंसे बचनेके लिए मैं बहुत जाग्रत रहता हूँ। तो भी झोंके खा जाना सम्भव है। इसलिए अगर विरुद्ध अभिप्राय मुझे मान्य न हो तो वे मुझे एक पक्षी न गिनें किन्तु नासमझ जानकर क्षमा करें और धैर्य रखें।

१. पागलपनका रोग निमित्तमात्र है।

२. उस रोगके निवारणका प्रयत्न सरकार करे या म्युनिसिपलिटी करे, किन्तु यह प्रश्न एक ही दृष्टिसे हल हो सकेगा। अगर महाजनमें सचमुच ही अहिंसा हो तो वह भी इसका इलाज खोजें। कुत्तोंको न मारनेका धर्म सरकार स्वीकार करेगी नहीं। म्युनिसिपलिटीमें भी कई सम्प्रदायके सदस्य होते हैं, इसलिए वह भी अहिंसक उपायकी खोज न करेगी।

३. अहिंसक उपाय खोज निकालनेका भार महाजनके ऊपर ही होगा। महाजनको निर्दोष या निरुपाय माननेमें भूल है।

४. इस चर्चाके सम्बन्धमें मैं रोगी कुत्तेमें और खूनी आदमीमें कोई फर्क नहीं देखता। खूनीपन भी एक रोग ही है। खूनी अपनेको पहले भूल जाता है, तब खून करता है। दोनों ही दयाके पात्र हैं। किन्तु यदि दोनों ही दूसरेको कष्ट दें और ऐसा करनेसे रोकनेमें उन्हें देह-मुक्ति भी करनी पड़े तो वैसा करके उन्हें रोकना धर्म हो जाता है यह धर्म अहिंसकके लिए भी ठीक है।

५. घर-घर कुत्ता पाला ही जाय, मेरे कहनेका ऐसा आशय ही नहीं है।

अगर कुत्ता रहे तो वह पालतू ही रहे। पालतू कुत्तेको रोग न होता हो, ऐसी कुछ बात नहीं है। किन्तु उसके लिए उसका पालक जवाबदेह होगा।

६. शहरके कुत्ते तो आज कुछ गरीब निर्दोष तो हैं नहीं। पालतू कुत्ते वैसा अमूमन होते हैं। उनको वैसा बनानेके लिए तो यह चर्चा चल रही है।

७. मैंने ऐसी बात नहीं बतलायी है कि जहाँ कहीं किसी भटकते हुए कुत्तेको देखा उसे मार डाला। किन्तु मैंने तो ऐसा कायदा बनाना सुझाया है। इस कानूनमें कुत्तेकी रक्षा तो समायी हुई है ही क्योंकि उससे दयालु मनुष्य या तो कुत्तोंको पालेंगे या दूसरा कोई उपाय ढूँढ़ निकालेंगे। और इस कानूनसे कुत्तोंका भटकना भी गायब हो जायगा। भिखारीको भिक्षा न देनेमें भिखारीको मारनेका नाम-निशान नहीं है, उसे स्वाश्रयी बनाना है, मनुष्य बनाना है। कुत्तोंको मारनेका धर्म तो मेरे पिछले लेखोंमें बतलायी हुई मर्यादामें ही पैदा हो सकता है। यह कहनेमें कि कुत्तोंके मारनेमें पाप है, मेरे कथनका बिलकुल खण्डन नहीं होता क्योंकि मैंने उसके विरुद्ध अभिप्राय दिया ही नहीं है।

८. इसकी चर्चा निरर्थक है कि अम्बालाल सेठने क्या किया और जो किया सो ठीक किया या नहीं, अथवा मैंने जो कहा है वह ठीक है या नहीं। हमारे पास उस किस्सेकी पूरी हकीकत भी नहीं है। उससे उत्पन्न हुई अहिंसाकी महा-पहेली ही चर्चा करने योग्य है और उसके हल होनेमें अम्बालाल भाईका सवाल उठाना मैं एक बाधा समझता हूँ।

९. सवाल तो इतना ही है कि अमुक संयोगोंमें अगर और कोई चारा न हो तब अहिंसाकी दृष्टिसे कुत्तोंको मारना धर्म हो सकता है या नहीं। मैं मानता हूँ कि हो सकता है और यह मैं अब भी मानता हूँ कि इसमें दो मत नहीं हो सकते। किन्तु संतोषका विषय यही है कि ऐसे प्रसंग हमेशा नहीं उपस्थित होते।

१०. किन्तु मैं एक मतभेद देख रहा हूँ। जिनकी शंकाओंके लिए, यह लेख मैं लिख रहा हूं, उनके और दूसरोंके लेखोंमें हर प्रसंगमें देहके आत्यन्तिक नाशके लिए संकोच भरा हुआ है। जैसे पगले कुत्तोंको बन्द कर और भूखों मारनेकी सूचना है; मेरा दयाधर्म, मेरे लिए यह वस्तु अशक्य बना डालता है। मैं कुत्ते या मनुष्यको तड़फड़ाता नहीं देख सकता। दुःखसे तड़फड़ाते मनुष्यको मैं मारता नहीं क्योंकि उसके लिए मेरे पास आशाजनक इलाज है। तड़पते हुए कुत्तेको मैं मारूँगा क्योंकि उसके लिए मेरे पास आशाजनक इलाज नहीं है। मेरा लड़का पागल हो जाय और उस रोगके लिए मेरे पास कोई आशाजनक इलाज न हो और दुःखसे वह तड़पता हो तो उसके देहका अन्त करना मैं धर्म समझता हूँ। दैवके ऊपर आधार रखनेके धर्मकी मर्यादा है। उपाय कर चुकनेके बाद हम दैवाधीन होते हैं। तड़फड़ाते बालकके लिए अनेक इलाजोंमें आखिरी इलाज, उसकी देहका अन्त करना भी है।

परन्तु इस चर्चाको मैं हालमें बढ़ाना नहीं चाहता। मेरी दृष्टिमें, मैं जो अपनी या अहिंसा-धर्मीकी पामरता मानता हूँ, वह इस चर्चामें बाधारूप है। इसलिए मतभेदको सहन कर लेनेकी विनती करता हूँ।

इतना तो एक विवेकी मित्रके प्रश्नोंके विषयमें हुआ। अब एक क्रोधी मित्रके प्रश्न लीजिये—

"हमें तो लगता है कि आप पाश्चात्य देशके पवनमें बहुत दिन रहे हुए हैं, उसके साहित्यका आपने अभ्यास भी किया है और उसके संस्कार आपके हृदयपर पड़े हैं, इसीसे, आप मनुष्यकी दयाकी चिन्ता कर, और प्राणियोंका जीव लेना अधिक इष्ट गिनते हैं। बहुत शान्तिसे विचार करके अपनी भूल कबूल कर जगतके सम्मुख माफी माँगिये। जगतमें महापुरुष गिने जानेवाले आदमीका यही कर्त्तव्य है। चाहिये तो ऐसा कि आप हजार चलनीसे चालकर, तब अपनी जो दृष्टि हो वह कहें, किन्तु आपने तो इस चर्चाको बहुत जोर देकर अपना नाम नीचा किया है।"

इसी प्रकारके पत्रोंमेंसे मैंने यह हलका वाक्य उतारा है। बिना विचारे मैंने उतावली नहीं की है। जो मनुष्य अपने मत निश्चित करनेमें अपने बड़प्पनका विचार करता है, वह सत्यका निर्णय नहीं करता, उसके सामने तो उसका बड़प्पन ही खड़ा रहता है, और सत्यके दर्शनमें वह विघ्न-रूप होता है।

पश्चिमकी सभी बातें त्याज्य हैं यह मैं नहीं मानता। पश्चिमके सुधारोंकी निन्दा मैंने कड़े शब्दोंमें की है। मेरा मन अब भी उनकी निन्दा करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पश्चिमका सभी कुछ त्याज्य है। पश्चिमके पाससे मैंने बहुत कुछ सीखा है और मैं उसका ऋणी हूँ। पश्चिमी देशोंके निवास और उसके साहित्यका अगर मेरे ऊपर कोई असर न पड़ा हो तो यह मैं अपना दुर्भाग्य समझूँगा। किन्तु यह मैं नहीं मानता कि कुत्तोंके विषयमें मेरा मत, पश्चिमकी शिक्षाके प्रभावसे बना है। अगर हम कई सम्प्रदायोंको बाद कर दें, तो पश्चिम यह सिखलाता है कि मनुष्यकी भलाईके लिए मनुष्येतर प्राणियोंको मारनेमें दोष नहीं है। इसलिए पश्चिममें जीते प्राणियोंको चीरने-फाड़ने (विविसेक्शन) को भी उत्तेजना दी जाती है। वहाँ स्वादके लिए भी अनेक प्राणियोंके मारनेमें पाप नहीं गिना जाता। मेरे मनमें पद-पदपर मर्यादा बँधी हुई है। शाकाहारको मैं हिंसा गिनता हूँ। यह शिक्षा तो पश्चिमकी नहीं गिनी जा सकती।

सिद्धान्तों या उनके अमलका विचार करते हुए, हमारे लिए नाकाम दलीलों या मिथ्यारोपणोंको स्थान देना संभव नहीं है। मेरे अभिप्रायकी तुलना स्वतंत्र रीतिसे होनी चाहिये। इससे क्या मतलब कि वह पश्चिमसे आया है या पूरबसे? विचारने योग्य बात तो यह है कि उसकी जड़ सत्यपर है या असत्यपर, उसके मूलमें हिंसा है या अहिंसा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि सत्य और अहिंसा, उसकी जड़ हैं।

हिंदी नवजीवन
१८ नवम्बर, १९२६

# अहिंसा—(६)

एक भाईके पत्रका अवतरण संक्षेपमें देनेके लिए, उसे अपनी भाषामें देता हूँ और उनके प्रश्नका जवाब नीचे देता हूँ—

"जीवमात्र तड़प तड़पकर मरते हैं। नरकमें पड़ा हुआ भी जीनेकी इच्छा करता है। कुत्तोंको भी मरना पसन्द नहीं पड़ता। इसलिए जो आदमी उसे मारता है, उसे दुर्गति देनेमें सहायक होता है।"

एक मनुष्य दूसरेको मारकर, उसे दुर्गति कैसे दे सकता है, यह बात मेरी समझके बाहर है। मनुष्य अपने ही बन्धन और मोक्षका कारण होता है, दूसरेका नहीं। अहिंसा-धर्मका पालन अपने ही मोक्षके लिए होता है।

"जो मनुष्य अपने सुखके लिए हिंसा करता है वह अपनी शक्तिका दुरुपयोग करता है।"

यह निर्विवाद है। कुत्तोंका बध मैंने जहाँ बतलाया है, वहाँ कुत्तोंका श्रेय प्रधान हेतु है। उसमें मनुष्यका सुख समाया हुआ है, किन्तु वह गौण है। जो केवल अपने सुखके लिए ही बध करता है वह तो केवल हिंसा ही करता है।

"अगर आप ऐसा मानें कि जीवका नाश तो होता ही नहीं, नाश तो देहका ही होता है तो फिर आज ही या दो दिनके बाद, उसका नाश हो जाय तो उसमें हानि ही क्या है? यह ठीक है किन्तु इससे, दूसरेका जीव लेनेका कुछ इजारा मनुष्यको मिल नहीं जाता।"

इसके विषयमें मुझे कुछ शंका ही नहीं है। जैसे आहारादिके लिए अनिवार्य समझकर हिंसा करते हैं, वैसे ही, ऐसी हिंसा भी हम अनिवार्य समझ कर करते हैं। देहके नाशवन्त होनेसे मनुष्यको दूसरेका प्राण लेनेका इजारा नहीं मिल जाता किन्तु आवश्यक प्रसंग आनेपर उसका नाश करनेसे रुकना भी उस देहके प्रतिक्षण होते हुए नाशको भूल जानेके समान है। सड़े हुए हाथको काटनेमें देहका नाश होते हुए भी हम उसे काट फेंकते ही हैं।

"किन्तु अगर उस प्राणीके सुखका विचार करके उसे मारिये तो यह भी मोह है। सुख-दुःख जैसी कोई वस्तु जगतमें है ही नहीं। दूसरेका दुःखसे तड़पना आप देख नहीं सकते तो इससे आपका अज्ञान प्रकट होता है। दूसरेके सुख-दुःखका जिसपर असर नहीं होता वह भव्य आत्मा है और इसलिए किसीके प्रति वह हिंसा भी नहीं करता।"

इस प्रश्नकी जड़में जो दलील है, उसमें मैं अनजान मिथ्यात्वको समाया हुआ देखता हूँ। दूसरेके सुख दुःखका जहाँ असर नहीं है, वहाँ दया नहीं है, जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं है, अहिंसा नहीं है। दूसरेका सुख ढूँढ़नेमें ही तो अहिंसाका शोध हुआ। मनुष्यने जब अपनेको दूसरेमें देखा और दूसरेको अपनेमें देखा, तभी उसने दूसरेके सुखसे सुखी और दुःखसे दुःखी होना सीखा। इससे उसने अपने ऐहिक सुखके त्यागमें आत्मिक सुखका अनुभव किया और इसीसे वह अपने लिए बेखबर जगतकी हिंसा करनेसे अटका।

"संसारीका दुःख मिटानेका प्रयत्न करना संसारी दृष्टि है। इसलिए उस दृष्टिमें ही हिंसा है। इसलिए पीछेसे उसमेंसे अहिंसाका प्रतिपादन क्यों कर हो सकता है?"

यह वाक्य इसके लिखनेवालेके लिए या किसीके लिए शोभाप्रद-सा नहीं जान पड़ता। हम सब संसारका दुःख मिटानेका सतत् प्रयत्न करते हैं। भूख, प्यास, जाड़ा, गर्मी मिटानेमें हम बहुत समय लगाते हैं। किन्तु जो केवल अपनी ही भूख मिटाकर रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ता, वह स्वेच्छाचारी गिना जाता है। जो दूसरोंकी मिटाकर तब अपनी मिटानेके लिए थोड़ा प्रयत्न करता है, वह वीतरागी गिना जाता है।

एक दूसरे भाई लिखते हैं—

"मालूम होता है कि आप रायचन्द भाईका लिखा हुआ भूल गये। आपने उनसे पूछा कि मुझे अगर साँप काटने आये तो क्या करूँगा? उन्होंने कहा—तुम अपनी जान दे देना मगर साँपको मारना नहीं। अब कुत्तोंके विषयमें मालूम होता है कि आपने दूसरा ही न्याय निकाला है।"

मैंने दूसरा न्याय नहीं निकाला है। अपने लिए किसीको भी मारनेका समर्थन मैंने नहीं किया है। मेरा ऐसा प्रयत्न है कि मुझे अगर साँप काटने आवे या कोई दूसरा प्राणी मारने आवे, मैं उसे मारकर जीनेकी इच्छा न करूँ और देहको जाने देनेकी शक्ति ईश्वर मुझे देवें। हमारी चर्चामें समाज-दृष्टि है और दुःखसे तड़फड़ाते प्राणियोंके प्रति अपनी दृष्टि है। अगर मैंने रायचन्द भाईसे यह प्रश्न पूछा होता कि दुःखसे तड़फड़ाते साँपके लिए मैं क्या करूँ, जिसके लिए मेरे पास कोई इलाज नहीं है, या मेरी संरक्षकतामें रहनेवाले किसी व्यक्तिको काटने साँप आता और उसे रोकनेकी शक्ति मुझमें न होती तो रक्षितकी रक्षाके लिए मुझे साँपको मारना चाहिये या नहीं, तो रायचन्द भाई क्या जवाब देते, हममें-से कोई ठीक ठीक नहीं कह सकता। मेरे अभिप्रायके विषयमें मुझे कुछ शंका नहीं है।

एक तीसरे भाई लिखते हैं—

"आपके लेखपर मुझे बहुत श्रद्धा है किन्तु आपके वर्तमान लेखोंसे शंका पैदा होती है। श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यके मतसे आपका मत विरुद्ध नजर आ रहा है। आजतक आपके सब मत आचार्यके मतसे मिलते हुए जान पड़ते थे। वे कहते हैं—

रक्षा भवति :बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्र सत्वानाम्।

'इस एक ही जीवके मारनेसे बहुतसे जीवोंकी रक्षा होती है।' ऐसा मानकर हिंसक जीवोंकी भी हिंसा न करनी चाहिये।

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः।

'बहुत जीवोंके घाती ये जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे।' इस प्रकारकी दया करके हिंसक जीवोंको न मारना चाहिये।

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्
इति वासना कृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः।

'अनेक दुःखोंसे पीड़ित जीवोंके दुःखोंका शीघ्र ही नाश हो जायगा।' इस प्रकारकी वासना-विचार-रूपी तलवारको लेकर दुःखी जीवको भी नहीं मारना चाहिये।

"इसमें और आपके अबके विचारोंमें भेद दिखायी पड़ता है। इसका अधिक स्पष्टीकरण 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' नामक पुस्तकमें है। उसे देख लेनेके बाद आप अपना अभिप्राय बतलावें।"

मुझे श्री रेवाशंकर भाईने दक्षिण अफ्रीकामें 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' भेजा था। तभी मैं उसे पढ़ गया मेरे विचार अब किसीके आधारपर नहीं। जो जहाँसे अच्छा लगा वहाँसे वह विचार शुरूमें लिया था; लेकिन अब तो मेरे जीवनके वे अंश हो गये हैं और उन्हें बतलानेमें ही मुझे अपने आपको बतलाना पड़ता है। अहिंसा धर्मकी ऐसी सूक्ष्म चर्चासे कोई तात्कालिक लाभ होगा, ऐसा मैं नहीं मानता। लेकिन इस समय उसके विषयमें, मेरी दृष्टिमें, इतना अज्ञान फैला हुआ है कि मैं मानता हूँ कि अगर किसी भयके कारण या मोहके वश होकर अपने विचार मैं दबा रक्खूँ तो दोषमें पड़ूँगा। इसीसे लाचार होकर यह लेखमाला लिख रहा हूँ।

ऊपर जो श्लोक दिये गये हैं उनमें और मेरे विचारमें, मेरी मतिके अनुसार, कोई भेद नहीं है। किन्तु कदाचित् अगर यह सिद्ध हो जाय कि उनमें भेद है तो भी मुझे मेरा अभिप्राय ही अहिंसा धर्मके अधिक अनुकूल मालूम होता है।

ऊपरके श्लोकोंका आशय मैं ऐसा समझता हूँ कि उसमें वर्णित भावनाका विचार करके मनुष्यको वध न करना चाहिये। कारण स्पष्ट है। ऐसा वध

अनिवार्य और इस कारण स्वाभाविक होना चाहिये। भावनाका विचार करनेमें इरादा और आरंभ आते हैं, और दूसरे, आरंभ हिंसात्मक हैं। मुमुक्षुके लिए सहज प्राप्त धर्म, गीतामें जिसे निष्काम कर्म कहा गया है, पालन कर्त्तव्य है। उसे जगतके मोक्षका विचार करना नहीं है किन्तु अपने मोक्ष मार्गमें आनेवाली सेवाको करते जाना है। मैले पानीका गढ़ा मुझे भर देना चाहिये किन्तु मेरे लिए यह स्वाभाविक होनेसे मैं भरता हूँ। भरते समय यह अभिमान नहीं रखता कि ऐसा करनेसे मैं जगतकी सेवा कर रहा हूँ। मुझे यह भी नहीं मालूम होता कि आचार्यका ऐसा मत रहा हो कि मुझे इसका ज्ञान ही न होवे कि ऐसा करनेसे, गढ़ा भर देनेसे, कीड़े मरेंगे और उससे समाजकी सेवा होगी। आचार्यके इन वचनोंमें, निरभिमान, नम्रता, अल्पारंभ इत्यादिका आग्रह रहा है। मालूम होता है कि यह बतलानेके लिए ही ये श्लोक रचे गये हैं कि जब ऐसा प्रसंग उपस्थित हो कि बध किये बिना चले ही नहीं तो उस समय कैसी मानसिक स्थिति होनी चाहिये।

हिन्दी नवजीवन
२५ नवम्बर, १९२६

❀

"अहिंसा माने पूर्ण निर्दोषिता ही है। पूर्ण अहिंसाका अर्थ है प्राणीमात्रके प्रति दुर्भावका पूर्ण अभाव।"

—गांधीजी

## अहिंसा—(७)

पत्र तो अभी थोकके थोक चले ही आते हैं किन्तु एक भी नयी दलील या नया विचार दिखायी पड़नेके बदले उनमें वही पुराने सवाल पूछे जाते हैं और वे ही दलीलें दी जाती हैं इसलिए जो लोग इस प्रश्नपर विचार कर रहे हैं उनसे मेरी विनती है कि इस लेखमालाको वे फिर से पढ़ जायँ। ऐसी सलाह देते हुए मुझे कोई संकोच नहीं होता क्योंकि उनमें मैंने उतावलीमें निश्चित किये गये विचार नहीं दिये हैं किन्तु बहुत सालके अनुभव दिये हैं। उनमें मैंने कोई नया सिद्धान्त उपस्थित नहीं किया है किन्तु पुराने सिद्धान्तोंको ही मूर्तिमन्त करनेका प्रयत्न किया है। वे मूर्तिमन्त हुए हों या न हों, किन्तु चूँकि उसमें मेरे प्रामाणिक विचार हैं और मेरे पाससे अहिंसाके गूढ़ प्रश्नका निर्णय करानेकी आशा कितने एक भाई-बहन रखते हैं इसलिए मैं उनसे यह लेखमाला फिरसे बाँच लेनेकी सिफारिश करूँगा। कई लेखक मेरे अधूरे वाक्यको ही लिखकर उससे घबराकर कैफियत माँगने लगते हैं।

एक भाई कहते हैं कि 'आप तो कुत्ता जातिकी जड़ खोदना चाहते हैं।' मैंने तो ऐसा कहीं नहीं कहा है। मैं तो इस जातिकी रक्षाके लिए ही कहता हूँ। मैंने तो इतना ही कहा है कि ऐसा प्रसंग उपस्थित होनेपर ऐसे कुत्तेको मारा जा सकता है। इतना ही कहनेमें दोष हो तो यह दूसरी ही बात है मगर दलीलें तो सब इस मर्यादित बधके कथनके ऊपर ही रचनी चाहिये।

कितने ही भाई मेरे पहलेके उन वचनोंको लिखकर जो उन्हें तब पसन्द पड़ते थे मेरे हालके विचारोंमें पहलेके विचारोंसे विरोध बताते हैं। मैं ऐसा विरोध नहीं देखता। अहिंसाका पक्षपाती जैसा मैं पहले था वैसा आज भी हूँ।

पुष्प-पंखड़ी जिससे दूखे
जिनवरकी है वहाँ मनाही

यह अब भी पहलेकी भक्तिसे गा सकता हूँ किन्तु पहले जैसे वनस्पतियों, फलों और फूलोंका उपयोग किया करता था वैसे ही अब भी करता हूँ किन्तु उस उपयोगके पीछे यह भाव छिपा हुआ है कि वैसा उपयोग जितना कम हो सके उतना कम करूँ और देहाध्यासको क्षीण करता रहूँ।

मगर कोई कहते हैं कि "फूल और कुत्तेमें मीलान ही क्या?" यह आक्षेप मैं सहन कर रहा हूँ। ऐसे मीलानका प्रसंग उपस्थित हो सकता है। स्वच्छन्द विहरनेके लिए मीलान किया हो तो वह अधोगतिको पहुँचावेगा और धर्म समझने

या समझानेके लिए किया हो तो वह शोभा पा सकता है। मेरे मोलानका हेतु निर्मल है इसलिए म सुरक्षित हूँ।

अहिंसा-धर्मियोंकी पामरता मुझे दुःखदायी हो पड़ी है। अहिंसा अयोग्यता नहीं है। अहिंसामें शक्तिका अभाव नहीं। अहिंसा प्रचंड शक्ति है। उसका पूरा तेज हम न देख सकते न माप सकते हैं। हममेंसे किसी किसीको ही उसकी झाँकी भर मिल जाती है।

अहिंसा है जागृत आत्माका गुण विशेष। वह दूसरे गुणोंके मूलमें रही हुई है। इसलिए विचार, विवेक, वैराग्य, तपश्चर्या, समता, ज्ञानके बिना उसका पालन असम्भव है। उसमें कायरतासे नहीं चलता। जिन्हें अहिंसा समझनी है उन्हें हिंसामें समायी हुई अहिंसाको समझना ही होगा।

इस वाक्यका अनर्थ भले ही हुआ करे। ईश्वरके नामका अनर्थ कहाँ नहीं हुआ? उसके नाममें हम क्या राक्षसको नहीं पूजते? उसके नामपर थोड़ा पाप, थोड़ा खून हुआ है? इससे क्या ईश्वरके नामको बट्टा लगेगा? इससे क्या ईश्वरके नामको हम खूनके नीचे छिपा लेंगे?

कर्ममात्र सदोष है क्योंकि उसमें हिंसा समायी हुई है तो भी कर्मके क्षयके लिए कर्म ही करते हैं। देहमात्र पाप है। तो भी देहको तीर्थक्षेत्र बनाकर देह-मुक्तिकी तैयारी करते हैं। वैसे ही हिंसाको भी समझना चाहिये।

पर यह हिंसा हो कैसी? यह स्वाभाविक हो, कमसे कम हो, इसके पीछे केवल करुणा हो, इसके पीछे विवेक हो, मर्यादा हो, इसके विषयमें तटस्थता हो, यह सहज प्राप्त धर्म हो।

इस विचारसरणिसे चलनेपर दिन दिन हिंसा कम होती जायगी। इससे जिस हिंसाका उद्देश्य अहिंसाका क्षेत्र बढ़ाना हो, जो हिंसा अनिवार्य हो पड़े, जो ऐसी हो जिसके लिए परिणामका विचार किये बिना प्रयत्न किया जा सके, वह हिंसा क्षन्तव्य है; कर्तव्य भी हो सकती है। इसलिए यह कहना सरासर अनुचित नहीं है कि हिंसामें अहिंसा हो सकती है। इतना कहनेके बाद आश्रममें इस प्रश्नका किस प्रकार हल होता आ रहा है यह समझाकर इस लेखमालाको समाप्त करता हूँ।

आश्रममें कुत्तोंका प्रश्न उनके जन्मसे ही खड़ा रहा है। महाजनकी प्रवृत्तिसे उनका उपद्रव बढ़ गया है। यह उपद्रव बहुत कष्टसे सहन किया जाता है। पगले कुत्तोंका वध आश्रममें होता है। ऐसा अवसर दश वर्षमें दो या तीन बार आया होगा। दूसरा कोई कुत्ता नहीं मारा गया। उनको जहाँ तहाँ खाना देना बन्द किया है। इस नियमका अगर पूरा पालन हो तो मैं देखता हूँ कि कुत्ते और वैसे



विहारमें साम्प्रदायिक उन्मादके चिन्ह एक खण्डहरका निरीक्षण करते हुए बापूने अहिंसा और मानवताका संदेश दिया

बिहार में



महात्मा जी



अपने सहयोगियोंके साथ गांधीजी

ही हम सब भी सुखी होंगे। किन्तु उसका पालन पूरा पूरा हो नहीं सकता। हर एक आश्रमवासी उसे समझ नहीं सका है और समझनेके बाद भी सभी कोई नियमके पालनमें पूरे सचेत नहीं हैं। खैर, आश्रममें रहनेवाले मजूर भला इस नियमका पालन क्योंकर करें।

लाचार कई एक कुत्तोंको पालना पड़ता है। ऐसी दो कुत्तियों और उनके बच्चोंका पालन इस समय हो रहा है। बच्चोंके लिए जिसमें खूब गर्मी मिले ऐसी पेटी व टोकरी रखनी पड़ी है। इनको दूध दिया जाता है। माँके लिए खास भोजन बनता है।

दूसरी ओर महाजनसे भटकते हुए कुत्तोंको ले जानेकी बिनती की है। उनको यह स्वीकार भी हुई है। किन्तु महाजनकी गाड़ी अभी आयी नहीं है।

वैसे ही कुत्तोंके प्रति भी धर्म समझाया है। मगर इस विषयमें सबको थोड़ा बहुत अपनी आंतरिक प्रेरणाके अनुसार करनेकी छूट है। मारनेका धर्म मेरे पाससे कोई ग्रहण न करें, मारनेकी इजाजत ले सकते है। इसे मैंने मर्यादा देकर समझाया है। सभी अपनी अपनी गरजके अनुसार समझ कर उसका पालन करते हैं और करेंगे। मेरा अभिप्राय स्पष्ट न समझा हो तो उसे समझानेके लिए आश्रमके आचारका उल्लेख किया है जो इस अभिप्रायके अनुसार है।

आप देहान्ततक दुःख भोग कर दूसरेको सुख करने देनेका नाम अहिंसा धर्म है। अमुक व्यक्ति ऐसी तकलीफ सहनेको कहाँतक तैयार है इसका अन्दाजा दूसरा कोई नहीं कर सकता। धर्म एक है और अनेक है क्योंकि आत्मा भी एकानेक है।

हिन्दी नवजीवन

२ दिसम्बर, १९२६

"अहिंसा सत्यका प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है।"

—गांधीजी

# सर्वभूतहिताय

'यंग इण्डिया'के एक नियमित पाठक नीचेका पत्र लिखते हैं—

"एक साल पुरानी, एक अखबारकी कतरन भेजता हूँ। खास स्थितियोंमें प्राण लेनेके आपके विचारका, जिसका प्रतिपादन आपने 'अहिंसा' शीर्षक लेखमालामें विशेषकर तीसरे लेखमें किया है इससे समर्थन होता है।

—टाइम्स ऑफ इन्डियाका विशेष—

लिटलटन (कोलॉरेडो, अमेरिका) १३ नवम्बर, १९२५

हैरोल्ड ब्लेजर नामके मुफस्सिलके एक डाक्टरने अपनी लड़कीको क्लोरोफार्म देकर मारा डाला था क्योंकि उसने समझा कि इसका अपना अन्तकाल भी नजदीक ही है और उसके मर जानेके बाद उस लड़कीकी देख-भाल करनेवाला कोई न रह जायगा। इसके लिए उसपर मुकदमा चला, पर बेदाग छोड़ दिया गया; क्योंकि १४ घंटेके परामर्शके बाद भी जब जूरी लोग एकमत न हो सके तब मुद्दईको ही मुकदमा खारिज करनेको कहना पड़ा। डाक्टर ब्लेजरके वकील मिस्टर होरीने कहा कि 'उस लड़कीको डाक्टर ब्लेजरने ३२ साल तक पाला था। अन्तमें उसे दूसरोंके ऊपर बोझ न बनने देकर उन्होंने उचित ही नीतियुक्त काम किया। वह लड़की अशक्त, अधिकांगी, बिना हाथ पैरकी, बोलने या सोचनेकी शक्तिसे हीन थी और उसे भोजन भी पचा-पचाया ही देना पड़ता था। उसे आत्मा न थी।'

—'ब्रिटिश यूनाइटेड प्रेस कापीराइट'

"पारसाल इसी समय मैंने एक और खबर पढ़ी थी कि एक अभिनेत्रीने अपने प्रेमीको उसीकी अनुचित प्रार्थनापर गोली मार दी क्योंकि वह किसी ऐसी बीमारीसे बहुत दर्दसे परीशान था, जिसके छूटनेकी आशा न थी। उस अभिनेत्रीपर मनुष्य-हत्याका मुकदमा चला किन्तु वह इसलिए छोड़ दी गयी कि जूरियोंने सोचा कि ऐसी परस्थितिमें उसने कोई कसूर नहीं किया। ऐसे फैसलेको न्याय्य करार करनेके लिए फ्रांसमें कोई कानून तो नहीं मालूम होता है। किन्तु मैंने पढ़ा है कि डेनमार्कमें सचमुच ही ऐसा कानून बना है जिसके अनुसार कुछ अधिकार-प्राप्त लोग ऐसी हालतोंमें मनुष्योंको सुखकी मौत पार उतारनेमें कोई कसूर नहीं करते। मैं उम्मेद करता हूँ कि यह मामला आपके लिए और 'यंग इण्डिया' के दूसरे पढ़नेवालोंके लिए मनोरंजक होगा।"

मैं इस चिट्ठीको छापता हूँ क्योंकि अपनी स्थिति समझानेमें मुझे इससे मदद मिलती है। इस पत्र-लेखकको मैं जानता हूँ कि 'यंग इण्डिया' के बड़े ही

सावधान पाठक हैं। अगर ये मेरी बातोंको इतना गलत समझते हैं जो इनके पत्रसे स्पष्ट है तो इसका पता कौन जाने कि जब-तब 'यंग इंडिया' पढ़नेवालोंमेंसे कितने ऐसी भूल करते होंगे? हमारे दिलोंकी स्वाभाविक कड़ाईके कारण, हम बल प्रयोगका एक भी मौका हाथसे जाने देना नहीं चाहते, और कई पाठकोंने मेरा ध्यान इस ओर खींचा था कि इस कारण गलतफहमी पैदा होनेका डर है। आदमी तो इतना ही कर सकता है—उसे बहुत अधिक सावधान रहना चाहिये, जब वह नाजुक सवालोंको ले रहा हो; किन्तु बयानोंके बड़ेसे बड़े दुरुपयोगके भयसे भी परम सत्योंकी खुली और सच्चीसे सच्ची चर्चा रोकी नहीं जा सकती। अपने आप तो मैं, विनीत चर्चा, स्पष्टीकरण और विचार-विनिमयसे ही सीख सकता हूँ। ऊपरका पत्र तो एक उदाहरण मात्र है। इस चर्चाने पत्र-लेखक और मेरे बीच उसी सिद्धान्तके स्पष्टीकरणमें सच्चा मतभेद ऊपर कर दिखलाया है।

मेरा मत है कि डाक्टर ब्लेजर भले ही छूटे मगर मेरी जाँचके अनुसार अपनी लड़कीकी जान लेनेमें उन्होंने भूल की। उनके निकट रहनेवालोंके दयाभावमें विश्वासकी कमी इससे प्रकट होती है। यह मान लेनेका कोई कारण न था कि दूसरे उस लड़कीकी देखभाल न करते। मेरी मानी हुई परिस्थितियोंमें कुत्तोंका मामला उससे बिलकुल ही अलग है, जिसमें डाक्टर ब्लेजरने अपनेको पाया। मैं यह भी माननेको तैयार नहीं हूँ कि जड़ मूर्खोंको आत्मा होती ही नहीं। मेरा विश्वास है कि नीची श्रेणीके प्राणियोंको भी आत्मा होती है।

इससे भी अधिक वजनदार दूसरी कठिनाई है, जिसे एक दूसरे पाठक पेश करते हैं। उसे संक्षेपमें यों समझाया जा सकता है—

"आपने जो स्थिति पसन्द की है, मैं उसे समझता हूँ। यही एकमात्र सही स्थिति है। मगर आपका तर्क क्या उपयोगितावादके अधिकांश लोगोंके अधिक लाभके सिद्धान्तका रूप ग्रहण नहीं कर लेता? अगर आपकी यही स्थिति हो तो फिर आपके इस अहिंसा सिद्धान्त और उपयोगितावादमें जो अधिकांशके अधिक सुखके लिए प्राण लेनेमें हिचकेगा नहीं और अहिंसाकी जो हामी नहीं भरता, अन्तर ही क्या रह जाता है?"

पहले तो बाह्य कर्म दोनोंके एक हो सकते हैं किन्तु तो भी जिस आन्तरिक प्रेरणासे वे किये गये हैं उसके अनुसार उनके और दूसरे गूढ़ार्थोंमें अन्तर होगा; जैसे पश्चिममें मनुष्य तक ही, और वह भी जहाँ तक सम्भव हो, अहिंसा समाप्त हो जाती है और वहाँ मनुष्य जातिके माने गये लाभके लिए पशुओंको जिन्दा चीरने-फाड़नेमें, या उपयोगितावादके उसी सिद्धान्तके नामपर युद्धके सामान इकट्ठे करनेमें कोई हिचक नहीं होती। दूसरी ओर अहिंसावादी, उपयोगितावादीके साथ साथ कभी एक प्राण ले लेवे किन्तु जीते प्राणियोंको चीरने-फाड़नेमें या युद्धकी अनन्त तैयारियोंमें सहायता देनेके बदले वह मर जाना ही अधिक पसन्द करेगा।

बात तो यह है कि अहिंसावादी उपयोगितावादका समर्थन नहीं कर सकता। वह तो 'सर्वभूतहिताय' यानी सबके लिए अधिकतम लाभके लिए ही प्रयत्न करेगा और इस आदर्शकी प्राप्तिमें मर जायगा। इस प्रकार वह इसलिए मरना चाहेगा जिसमें दूसरे जी सकें। दूसरोंके साथ-साथ वह अपनी सेवा भी आप मर कर करेगा। सबके अधिकतम सुखके अन्दर अधिकांशका अधिकतम सुख भी मिला हुआ है और इसलिए अहिंसावादी और उपयोगितावादी, अपने रास्तेपर कई बार मिलेंगे किन्तु अन्तमें ऐसा अवसर भी आयेगा जब उन्हें अलग अलग रास्ते पकड़ने होंगे और किसी किसी दशामें एक दूसरेका विरोध भी करना पड़ेगा। अयुक्तियुक्त न बननेके लिए, उपयोगितावादी अपनेको कभी बलि नहीं कर सकता। अहिंसावादी मिट जानेको हमेशा तैयार होगा। सर्वभूतहितवादी जब कभी कुत्तेको मारता है तो अपनी निर्बलताके कारण या तो बिरले हीं खुद कुत्तेके लिए ही। इस बातसे यह निश्चय करना कि कुत्तेका लाभ किसमें है, बहुत ही खतरनाक है, और इसलिए ऐसा करनेवाला भयानक भूलें कर सकता है, कामको करनेकी प्रेरणासे कोई मतलब नहीं है। सर्वभूतहितवादीकी हिंसाका क्षेत्र बहुत ही संकुचित होगा। उपयोगितावादीके लिए कोई सीमा नहीं है। अहिंसा सिद्धान्तके अनुसार विचार करनेपर यूरोपीय महासमर सरासर अनुचित मालूम होता है। उपयोगितावादके अनुसार प्रत्येक पक्षने उपयोगिताके अपने विचारके अनुसार अपना पक्ष न्यायसिद्ध कर दिया है। उपयोगितावादके सहारे जालियानवाला बाग काण्डको भी उसके करनेवालोंने न्याय सिद्धकर दिखाया। ठीक इसी तर्कसे अराजक भी अपनी हत्याओंका समर्थन करते हैं। किन्तु सर्वभूतहितवादके सिद्धान्तकी कसौटीपर इनमेंसे किसी भी कामको समुचित नहीं सिद्ध किया जा सकता।

हिन्दी नवजीवन

६ दिसम्बर, १९२६

❀

"अहिंसा एक पूर्ण स्थिति है। सारी मनुष्य जाति इसी एक लक्ष्यकी ओर स्वभावतः, परंतु अनजानमें, जा रही है।"

—गांधीजी

# सनातन प्रश्न

अल्मोड़ासे एक सन्यासी लिखते हैं—

"गत १५ अप्रैलके यंग इन्डियामें किसी पत्र-प्रेषकको उत्तर देते हुए आपने लिखा है कि यदि सांप आपपर भी आक्रमण करे तो आप उसे मारनेकी इच्छा न करेंगे। मेरे ख्यालसे यह अनुचित होगा। क्योंकि एक तो इस तरह आप मानों स्वयं आत्मघात करेंगे, और दूसरे उस विषैले जन्तुको वैसे ही छोड़कर आप दूसरे लोगोंको हानि पहुँचानेमें कारण होंगे। दूसरा उदाहरण लीजिये। किसी गृहस्थके घरमें साँप निकलता है। वह उसे मारता नहीं, बल्कि अपने घरसे बाहर छोड़ देता है। फलतः वह साँप निश्चय ही दूसरे किसीके घरमें घुसकर उसमें रहनेवालोंको हानि पहुँचायेगा। और निश्चय ही इसकी जिम्मेदारी उसी शख्सके सिरपर होगी, जिसने दयाकी मिथ्या कल्पनाके कारण ऐसा भयंकर जन्तु जिन्दा छोड़ दिया। और भी कितने ही सरपट चलनेवाले जानवर, पशु और जन्तु हैं जो मनुष्योंको हानि पहुँचाते हैं, या बिमारियाँ फैलाते हैं। सचमुच यदि ऐसे प्राणियोंके नाशको हिंसा कहा जाय, तो वह उस हिंसासे कहीं कम होगी, जो इनके जिन्दा रहनेसे होती है। खैर, मान लिया जाय कि यदि आदमी अपनी जान बचानेके ख्यालसे ऐसे भयंकर जानवरोंको मारे तो वह हिंसा कही जाय। परन्तु यदि अनेक कीमती प्राणोंको बचानेके लिए यदि उसे मारा जाय तो वह कदापि हिंसा न कही जानी चाहिये। आखिर प्रत्येक कार्यकी भलाई-बुराईका निर्णय हेतुको देखकर होता है, और जब वही उच्च और शुद्ध हो, तब वह नाश या बध हिंसा नहीं कर्त्तव्यका रूप धारणकर लेता है। मैं यह चाहता हूँ कि आप इस प्रश्नका उत्तर 'यंग इन्डिया'में दें तो बड़ा अच्छा हो।

संन्यासीका प्रश्न सनातन है। इसमें शक नहीं कि वह बड़ा जोरदार भी है। अगर उसमें यह शक्ति न होती तो प्राचीन कालसे जो हत्या चली आ रही है वह जारी नहीं रहती। बहुत कम लोग दुष्टतापूर्वक निष्ठुरताका काम करते हैं। इतिहासमें वर्णित घोरसे-घोर और निघृण अपराध या तो धर्म या इसी प्रकारके अन्य उदात्त ध्येयकी ओटमें किये गये हैं। पर मेरे ख्यालमें तो उस हत्यासे हमारी दशा जरा भी नहीं सुधरी है—फिर भले ही वह हत्या धर्म जैसे सर्वोच्च आदर्शके नामपर हुई हो। बेशक, किसी न किसी प्राणीकी किसी न किसी रूपमें हिंसा तो अनिवार्य है। जीव जीवोंपर जीते हैं। इसलिए और महज इसीलिए बड़े-बड़े द्रष्टाओंने उस स्थितिको मोक्ष कहा है जिसमें जीवन शरीरसे मुक्त हो—उस शरीरसे, जिसका पालन, संवर्धन करनेके लिए हत्या या हिंसा अनिवार्य होती है। और मनुष्यके लिए इसी शरीरमें रहते हुए उस पदकी आशा करना असम्भव भी नहीं, यदि वह हिंसाकी मात्रा घटाकर कमसे कम कर दे, जैसा कि वह निरामिषाहारी होकर कर सकता है। वह जितना ही जान बूझकर

तथा बुद्धिपूर्वक अपने आपको ऐसी हिंसासे दूर रखेगा, जिसमें अपने निर्वाहके लिए दूसरे प्राणियोंकी हत्या होती है, उतना ही वह सत्य और परमात्माके अधिक नजदीक होगा। संभव है, मनुष्य जाति ऐसा जीवन शायद पसन्द न करेगी जिसमें कुछ भी आकर्षण न दिखायी दे। किन्तु इससे मेरे कथनके सत्यको बाधा नहीं पहुंचती। परन्तु वे लोग, जो पूर्णतः ऐसा निस्वार्थ जीवन व्यतीत कर रहे हैं, और प्राणिमात्रके प्रति करुणामय व्यवहार करते है, हमें परमात्माका महात्म्य समझनेमें सहायता करते हैं। वे मनुष्य जातिको ऊँचा उठाते हैं और उसके आदर्श पथको आलोकित करते हैं। उस जीवनको नष्ट करनेका हमें कोई अधिकार नहीं, जिसके बनानेकी शक्ति हमें न हो। मुझे यह दलील नास्तिक सी प्रतीत होती है, कि परमात्माने कुछ प्राणियोंको इसलिए बनाया है कि वे मनुष्यके द्वारा मारे जायँ जिन्हें मनुष्य सहज आनन्दके लिए या अपने शरीरके पोषणके लिए मारता रहे जो निश्चय ही किसी क्षण नष्ट होनेको है। हमें पता नहीं कि प्रकृतिके दरबारमें उन भयंकर समझे जानेवाले प्राणियोंका स्थान कहां है। पर हिंसा द्वारा हम प्रकृतिके कानूनोंको कभी न समझ पायँगे। ऐसे पुरुषोंके वर्णन हमारे पास मौजूद हैं जिनकी दया मनुष्यको व्याप्त कर उसे लांघ गयी थी और जो भयंकर हिंस्त्र पशुओंके बीच रहते थे। समस्त जीवन-सृष्टिमें कोई ऐसा आन्तरिक सम्बन्ध जरूर है, जिसके कारण शेर, सिंह, बाघ और सांपोंने उन मनुष्योंको कोई उपद्रव नहीं पहुंचाया जो निर्भय होकर, उन पशुओंके मित्र बनकर उसके पास गये थे।

यह दलील सदोष है कि यदि मैं किसी विषैले साँपको नहीं मारूँगा तो वह जरूर ही अनेक आदमियों और स्त्रियोंकी जानका ग्राहक होगा। वह मेरे कर्त्तव्यका अंग नहीं कि मैं तमाम विषैले जन्तुओंको ढूँढ़-ढूँढ़ कर मारता फिरूँ। और न मुझे यह मान लेनेकी जरूरत है कि मुझे मिलनेवाले विषैले साँपको यदि मैं नहीं मार डालूँगा तो वह किसी राहगीरको जरूर ही डस लेगा। उस साँप और मेरे पड़ोसीके बीच मुझे न्यायकर्ता नहीं बन जाना चाहिये। यदि मैं अपने पड़ोसियोंके साथ वैसा ही सलूक करूँ जैसे सलूककी आशा मैं उनसे करता हूं, यदि मैं उनको किसी ऐसे बड़े खतरेमें नहीं डालता जिसमें मैं हूँ, और यदि उन्हें नुकसान पहुंचा कर मैं अपना भला नहीं कर रहा हूँ, तो मैं समझूंगा कि मैंने अपने पड़ोसियोंके प्रति अपने कर्त्तव्यको पूरा कर लिया। इसलिए, जैसा अकसर किया जाता है, मैं उस साँपको अपने पड़ोसीके हातेमें नहीं छोड़ूंगा। अधिकसे अधिक मैं यह कर सकता हूँ कि सांपको जितना एक तरफ छोड़ा जा सके उतना छोड़कर अपने पड़ोसियोंको इस बातकी सूचना कर दूं। मैं जानता हूँ कि इससे मेरे पड़ोसियोंको न तो कोई आराम मिलेगा न रक्षा ही। पर हम तो मृत्युके मुखमें खड़े रहकर सत्यकी राह ढूँढ़ रहे हैं। शायद हमारे जीवनमें कदम-कदमपर जानका खतरा है। क्योंकि इस खतरेका ज्ञान होनेपर तथा हमारे जीवनकी अनित्यताका

ख्याल होते हुए भी समस्त जीवमात्रोंके स्रोत—उस भूत भावनके प्रति हमारी उदासीनता आश्चर्यजनक है। हमारे अहंकारसे वह कुछ ही कम है।

इस उत्तरसे मुझे संतोष नहीं है, जो मैं संन्यासीको दे रहा हूँ। उनके पत्रसे, जो हिन्दीमें लिखा हुआ है, मुझे ज्ञात होता है कि वे स्वयं सत्यकी खोजमें हैं। इसीलिए मुझे उनके प्रश्नका उत्तर इस तरह प्रकाश्य रूपसे देना पड़ा। स्वयं मेरी दशा तो बड़ी दयनीय है। प्राणिमात्रकी किसी भी रूपमें हिंसा देख कर मेरी बुद्धि तो बलवा कर देती है। पर मेरा हृदय अभी इतना मजबूत नहीं हो पाया जिससे उन प्राणियोंको अपना मित्र बना लूँ जिन्हें अनुभवने हिंस्र साबित किया है। इसीलिए प्रत्यक्ष अनुभवसे पैदा होनेवाले विश्वासकी निर्भ्रान्त भाषा मेरे पास नहीं है। यह हालत तबतक बराबर बनी रहेगी, जबतक मैं साँप, बाघ, आदि प्राणियोंसे डरने योग्य कायर बना रहूँगा।

मैं इस प्रश्नका उत्तर बड़ी झिझकके साथ दे रहा हूँ। पर मुझे मालूम हुआ कि 'जाति' खोनेके भयसे यदि मैं अपना विश्वास जाहिर न कर दूँगा तो वह अनुचित होगा। क्योंकि दक्षिण अफ्रीकामें मेरे मित्र एक बार मुझे ऐसा ही समझने लग गये थे। एक दिन हम खाना खा रहे थे, और इसी विषयपर बात-चीत छिड़ गयी। उन्होंने मेरे पुनर्जन्म, गोरक्षा, निरामिषाहार विषयके विचारोंकी परवा नहीं की, यद्यपि वे उन्हें बड़े विचित्र दिखाई दिये। पर उन्हें यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ—मुझपर अविश्वास हो गया, जो उनके चेहरोंपर स्पष्ट दिखायी देने लगा—कि यदि परमात्मा मुझे बल दें तो मैं साँपको भी नहीं मारना चाहूँगा, भले ही मुझे निश्चय हो जाय कि उसके न मारनेसे मेरी जानका पूरा पूरा खतरा है। शीघ्र ही अविश्वासको हँसीने दबा दिया और वे हँस कर बोले—"अरे, तब तो आप बड़े भारी खतरनाक आदमी हैं।"

हिन्दी नवजीवन

२३ जून, १९२७

"सत्यके बाद असलमें अहिंसा ही संसारमें बड़ीसे बड़ी सक्रिय शक्ति है। विफल तो वह कभी होती नहीं। हिंसा सिर्फ ऊपरसे सफल मालूम पड़ती है।" —गांधीजी

# अहिंसाका जुर्म

"क्या आप मानते हैं कि खलोंका दमन और संतोंका रक्षण हर एक आदर्श सरकार और महात्मा-जनोंका कर्त्तव्य है ? अगर आप इसे स्वीकार करते हैं तो फिर इस युग-युगके पुराने सिद्धान्तसे आपके राजनीतिक आदर्शवादसे कहाँ मेल बैठता है ? क्या कुरुक्षेत्रकी युद्ध-भूमिमें अर्जुनको कृष्णके उपदेशका सार यही नहीं है ?

"क्या अवतारोंकी भी यही नीति नहीं थी जिससे राजा बलिका राज्य छीना गया, बालि मारा गया और जरासंधका नाश हुआ ?

"आप साधारण आदमियोंसे और वह भी बहुतोंसे, यह आशा कैसे रखते हैं कि वे अपने अविवेकी शत्रुओंके वार, बिना किसी तरहका बदला लिए सहते जायँगे ? इस दृष्टिसे क्या हम आपकी भावनामय शिक्षाओं और उपदेशोंको अव्यावहारिक और मामूली आदमियोंके लिए अशक्य गिननेमें भूल करते हैं ? दक्षिणी अफ्रीकामें आपकी अस्थायी और थोड़ी थोड़ी करके मिली हुई सफलताको बहुत बढ़ा दिया गया है और साधारण बुद्धिके हिन्दुस्तानी आँख मूँदकर भेड़ोंके जैसे यह भूल करके कि दक्षिण अफ्रीकाका उदाहरण हिन्दुस्तान जैसे विशाल देशपर जिसमें बहुतसी भाषाएँ और धर्म हैं, लागू नहीं पड़ता, आपके पीछे चलकर मुश्किलोंमें पड़ गये हैं। बहुतसे देशभक्तोंका जीवन बर्बाद करनेके बाद क्या आपने अबतक यह नहीं समझा है कि एक वर्षमें स्वराज्यकी आपकी घोषणा गलत साबित हुई है ? क्या आप यह नहीं कबूल करते कि बारडोलीमें आपके पीछे हटनेसे गुंटूरवालोंके बीच बड़ी घबराहट फैल गयी जो आपके कार्यक्रमके अनुसार बड़ी वीरता और मर्दानगीसे कर देना बंद कर बैठे थे ?

"क्या हम पूछ सकते हैं कि खिलाफत-आन्दोलनमें आपके पड़ने और उसके फल-स्वरूप थोड़ेसे धर्मान्ध मुसलमानोंके हाथमें महासभा ( कांग्रेस ) के पड़ जानेका क्या फल हुआ है ? जिस हिन्दू-मुसलिम एकताके बारेमें आपने इतना लिखा है, हिन्दुओंसे इतनी अपील की है, मुसलमानोंके संकटकी घड़ी टलते ही क्या वह बालूके भीत-सी गिर नहीं गयी है ? क्या आप अपनी पवित्र शिक्षाओंसे इसकी कभी आशा रखते हैं कि धर्मान्ध और बहादुर मुसलमानों और जाति रोगसे रोगी और भीरु हिन्दुओंमें कभी मेल होगा ? क्या आपको कभी इसका भान हुआ है कि जबसे अहिंसाके सिद्धान्तकी बदौलत कांग्रेसमें आप मुखिया बने तभी से साम्प्रदायिक झगड़े बराबर बढ़ते ही गये हैं ?

"क्या आप इसे कबूल नहीं करेंगे कि आपकी राजनीति चाहे धर्मके नाममें जितनी ही क्यों न ढँकी हो, मगर उससे पण्डित मालवीय, देशबन्धु दास, लाला लाजपतराय, श्रीयुत विजयराघवाचार्य, श्री केलकर, डाक्टर मुंजे और दूसरे अखिल भारतीय नेता आजिज आ गये थे ?

"क्या आपने महात्मा तिलकका नेतृत्व, कमसे कम शुरूमें ही सही, स्वीकार नहीं किया है ? तब इसकी क्या वजह है कि आप आज राष्ट्रके हितके विरोधी, गहन सामाजिक और धार्मिक झगड़े उभाड़ रहे हैं ? क्या आपको यह नहीं भासता है कि पहलेसे ही दासवृत्ति वाले हिन्दुओंमें इससे और भी अधिक फूट फैलती है तब क्या आप हमारे उन शत्रुओंका ही काम, अप्रत्यक्ष रूपसे नहीं साध रहे हैं ? जिनकी एक मात्र दलील यह है कि हम अपनी सामाजिक निर्बलताओंके कारण राजनीकि स्वतंत्रताके आयोग्य हैं।

"क्या ऊँची जातिके हिन्दुओंके मंदिरोंमें, जिन्हें ऊंची जातिवालोंने केवल अपने ही लिए बनाया था, घुसनेको आप पंचमोंको उत्तेजित करके ठीक काम करते हैं ? आप क्या अपनेको त्रिनेत्र रुद्र समझते हैं कि युग-युगसे चले आनेवाले रीतिरस्मोंको एकबारगी तोड़ डालें ? हालमें हमें यह जानकर आश्चर्य हुआ है कि आपने विधवा-विवाहका समर्थन करना शुरू किया है और अपरिपक्व बुद्धिके नवयुवकोंको विधवाओंसे विवाह करनेकी सलाह बेधड़क दी है ? क्या आप यह नहीं मानते कि स्वामी विवेकानन्द और दूसरे लोगोंने विधवा-विवाहका समर्थन न करके चतुराई ही की क्योंकि आज कुमारी कन्याओंके भी विवाहोंमें होनेवाली कठिनाइयोंको वे जानते थे ? क्या हम पूछ सकते हैं कि इन सब अत्यन्त विवादग्रस्त सवालोंको स्वराजके साथ मिला देनेसे कहां तक मेल होगा जो शुद्ध राजनीतिक है और जिसपर आशा की जाती है कि हम सब एक मत होंगे ?

"विज्ञानकी उन्नतिके इस युगमें आपका चर्खा लोकप्रिय नहीं हो सकता। क्या आप अपने अनुभवोंके आधारपर यह नहीं सोचते कि अगर आप केवल मजदूरोंके संगठनके काममें लगे रहें तो अच्छा होगा।

"अहिंसा-धर्ममें सच्चा विश्वासी होनेके कारण क्या आपका यह कर्त्तव्य नहीं है कि आपका उन म्युनिसिपलटियोंसे मानपत्र स्वीकार न करें जिनके यहां कसाई खाने चलते हैं ?"

बरहमपुरसे मुझे किसी भाईने एक लम्बा पत्र भेजा था। ऊपर उसीका सारांश दिया गया है। चूंकि मुझे यह माननेका कारण है कि इस पत्र-लेखकने वे बातें खुलासा कहनेका साहस किया है जो दूसरे लोग मनमें छिपाये हुए हैं, मुझे जान पड़ता है कि इस इलजामका जवाब देना जरूरी है।

इन सवालोंका व्यौरेवार जवाब देना जरूरी नहीं है। हममेंसे बहुत लोग बड़ी भारी भूल करते हैं कि शास्त्रोंका वे अक्षरशः अर्थ लगाने लगते हैं। वे भूल जाते हैं कि शब्दोंके पीछे चलनेवाला मरता है और भावोंके, जी उठता है। महाभारत और पुराण न तो बिलकुल इतिहास ही हैं और न धर्मशास्त्र ही। मुझे लगता है कि मनुष्यके धार्मिक इतिहासको भिन्न-भिन्न रूपोंमें समझानेके लिए वे विचित्र रूपसे लिखे गये हैं। उनमें वर्णित सभी नायक हम लोगों जैसे अपूर्ण, नश्वर प्राणी हैं, अगर अन्तर है तो असंपूर्णताकी मात्रामें ही। उनके कहे गये कामोंका हम आँख मूंदकर अनुकरण नहीं कर सकते। महाभारतकी सारी शिक्षाका

सार इतनेमें दिया हुआ है, 'सत्यं जयते नानृतम्' यह सच है कि सत्य सभी वस्तुओंको अवश्य ही जीत लेता है।

मगर मैं शास्त्रोंमें लिखी हर एक बातका औचित्य सिद्ध करनेकी कोशिश नहीं कर रहा हूं। इन ग्रन्थोंको श्रद्धाके साथ पढ़नेपर मुझपर सब मिलाकर जो असर पड़ता है, मैं उसीको मानता हूँ। हर एक आदमीको, जो सच्चा होना चाहता है, यही करना पड़ेगा। इस तरह मेरा दावा है कि अहिंसा और सत्यमें मेरा विश्वास उन्हीं ग्रन्थोंके पढ़नेसे जमा है, पैदा हुआ है जिनमेंसे ये भाई मेरे सामने ये विरोधी बातें ला रखते हैं। नहीं, यही नहीं, बल्कि मेरा विश्वास आज मेरे जीवनका ही परमावश्यक अंग हो रहा है, और इसलिए इन किताबोंके या किन्हीं और किताबोंके बिना सहारेके स्थिर रह सकता है। निश्चय ही हर एक धार्मिक प्रवृत्तिवाले आदमीके जीवनमें वह समय आता है जब उसे अपने ही सहारे खड़ा रहना पड़ता है। इसलिए यह भले ही सिद्ध किया जाय कि अवतारोंने फलां काम किया था, फलां काम नहीं किया था, मगर इसका मुझपर कोई असर नहीं पड़ सकता। दिनों-दिन बढ़ता और सबल होता हुआ मेरा अनुभव मुझे कहता है कि जहां तक आदमीके लिए सम्भव हो, उस हद तक सत्य और अहिंसाका पालन किये बिना, न तो व्यक्तियोंको और न जातियोंको ही शान्ति मिल सकती है। बदला लेनेका नीतिको कभी सफलता नहीं मिली है। बदला लेनेसे, जिसमें अक्सर धोखेबाजी और जोर-जबर्दस्ती भी शामिल होती है, कभी-कभी अस्थायी और दिखाऊ सफलता मिलनेके इक्का-दुक्का उदाहरणोंसे हम घबरा न जायँ। संसार आज इसलिए खड़ा है कि यहाप· घृणासे प्रेमकी मात्रा अधिक है, असत्यसे सत्य अधिक है। इसकी जांच हर कोई, जो सोचनेकी तकलीफ उठावे, कर सकता है। धोखेबाजी और जोर-जब्र तो बीमारियां हैं, सत्य और अहिंसा स्वास्थ्य हैं। यह बात कि संसार अभी तक नष्ट नहीं हो गया है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि संसारमें रोगसे अधिक स्वास्थ्य है। इसलिए जो इसे समझ लें, वे अत्यन्त विरोधी स्थितियोंमें भी स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करें।

मेरे उपदेश और शिक्षाएँ, भावुकतामय या अव्यावहारिक नहीं हैं, क्योंकि मैं वही सिखलाता हूँ जो पुराना है, और जो कहता हूँ वह करनेकी कोशिश करता हूं और मेरा वह दावा है कि जो मैं करता हूँ वह हर एक आदमी कर सकता है क्योंकि मैं एक बहुत मामूली आदमी हूँ, मेरे सामने भी वही प्रलोभन हैं, मुझमें भी वही कमजोरियां हैं, जो हममेंसे निबलसे निर्बल मनुष्यमें हैं।

दक्षिण अफ्रिकामें, उस समयके लक्ष्यकी सफलताके अंदाजके हिसाबसे, पूरी सफलता मिली थी। जो बात छोटे समाजोंपर लागू है, वही बड़े समाजोंपर भी, केवल उसी तरहका काम मगर ज्यादे पैमानेपर करना पड़ेगा।

मुझे अपनी पद्धतिमें इतना अधिक विश्वास है कि मैं यह भविष्य कथन कर सकता हूँ कि आनेवाली पीढ़ियां १९२० और १९२१ सालको भारतवर्षके इतिहासमेंसे सबसे चमकदार पृष्ठ समझेंगी और उनमें भी 'बारडोलीका पीछे हटना' सबसे महान काम समझा जायगा। बारडोलीके निश्चय ने हिन्दुस्तानको इस लायक बनाया है कि वह दुनियाके सामने आँखें सीधी रखे, सिर ऊँचा रख सके। कांग्रेसका वर्तमान मंतव्य रहते हुए, राष्ट्रके लिए यही एक मात्र सच्चा, बहादुरीका और प्रतिष्ठित रास्ता था। स्वराजकी लड़ाई कुछ खेल नहीं थी। और अगर किसीको बिना चाहे तकलीफ उठानी पड़ी तो इसलिए पड़ी थी कि वे आगके साथ खेल रहे थे।

खिलाफत आन्दोलनमें पड़नेसे दोनों जातियाँ सबल हुई हैं और वह सामूहिक चेतना उत्पन्न हुई है जिसके और तरहसे होनेमें एक जमाना लग जाता। अगर सच्ची एकता कभी होगी तो मेरी ही शिक्षाओंके माननेसे होगी। आजके हिन्दू-मुसलिम झगड़े, हिन्दुओंके आपसके झगड़े और मुसलमानोंके अपने घरके झगड़े सामूहिक चेतनाके चिन्ह हैं। आज जो चीज हम देख रहे हैं वह तो आत्मशुद्धिकी क्रियामें मैलका ऊपर निकल आना है। लेखक महोदय चीनी साफ करनेके किसी कारखानेमें चीनीका साफ किया जाना देख आवें और तब वे मेरा मतलब समझ जायँगे। यह मैल सिर्फ फेंक दिये जानेके लिए ही ऊपर सतहपर आ गया है। मुझे इसका कोई पता नहीं है कि पंडित मदनमोहन मालवीय और लेखकके गिनाये दूसरे नेता मेरी राजनीतिसे ऊब गये हैं। कुछके बारेमें तो मैं जानता हूँ कि उनके साथ बात इसकी उलटी ही है। किन्तु वे अगर ऊब गये हों तो भी मुझे आशा है कि मेरा विश्वास मेरे उन मित्रोंका मतभेद भी सह सकेगा जिनकी सम्मतिका मेरे सामने कुछ मूल्य है।

लोकमान्यके बारेमें लेखक अपना अज्ञान तब प्रकट करते हैं जब वे उनकी वे नीतियाँ बतलाते हैं जो लोकमान्यकी कभी थीं ही नहीं। मैं जानता हूँ कि मेरे और उनके बीच मौलिक अन्तर थे, मगर लेखक जिनकी कल्पना करते हैं, वे अन्तर नहीं थे। हमें अपने नेताओंसे यह सीखना चाहिये कि उनके कामोंकी बेजाने, बेसमझे बूझे आँख मूँदकर नकल न करें। हमें उनसे उनकी बहादुरी, उनका महान स्वार्थत्याग, उनकी परिश्रमशीलता, उनका देश-प्रेम, और अपने आदर्शोंपर दृढ़ रहनेकी प्रवृत्ति सीखनी चाहिये। हम जब बिना किसी कारणके या यथेष्ट ज्ञानके उनके इक्के दुक्के कामोंकी नकल करने लगते हैं तब बड़ी भारी भूल करते हैं।

मेरा दावा है कि जो समाज-सुधारके काम मैं कर रहा हूं, और जिनमें परमात्माकी कृपासे मेरे कई प्रसिद्ध देशवासी भी मेरा भी साथ देते हैं, उनके बिना हिन्दू धर्मके नष्ट हो जानेका खतरा है।

लेखकके अविश्वासके होते हुए भी चर्खा बराबर प्रगति करता ही जा रहा है, मजदूरोंके हितके सागरमें चर्खेका काम मेरा हिस्सा है।

म्युनिसिपिलटियोंसे मानपत्र स्वीकार करते समय मेरा दावा होता है कि उनके कसाईखानोंमें होती हुई हत्याओंसे मैं छू नहीं जाता हूँ। इसके उलटे उन मानपत्रोंसे मुझे उन्हें अपने सिद्धान्तका उपदेश देनेका अवसर मिलता है। और मुझे यह लिखते हुए खुशी होती है कि वे इससे कभी बुरा नहीं मानते और कभी-कभी उसे स्वीकार भी कर लेते हैं।

हिन्दी नवजीवन
१५ दिसम्बर, १९२७

❀

"अहिंसा एक महाव्रत है। तलवारकी धारपर चलनेसे भी कठिन है। देहधारीके लिए उसका सोलह आना पालन असंभव है। उसके पालनके लिए घोर तपश्चर्याकी आवश्यकता है। तपश्चर्याका अर्थ यहां त्याग और ज्ञान करना चाहिये।"

—गांधीजी

# अंधेर या कुराज्य ?

एक सम्मानित मित्र लिखते हैं—

"आप जब अपना कोई राजनीतिक मत प्रकाशित करते हैं, मैं उसमें बारबार टांग नहीं अड़ाता हूँ। मगर हालके अपने किसी सम्पादकीय लेखमें आपने अपना एक पुराना निराला मत दुहराया है, जिसके कारण मुझे बरबस आपसे पूछना ही पड़ता है कि आपने क्या इस बार भी अपने शब्दोंको उसी सावधानीसे तौला है, जिसकी आशा नीतिके प्रतिपादकोंसे की जाती है ? यह तो बिलकुल ही स्वाभाविक, समुचित श्रेयस्कर है कि हिन्दुस्तानियोंको किसी विदेशी जुएसे स्वतंत्र होनेकी इच्छा हो और वे इसके लिए प्रयत्न करें। किन्तु यह तो अक्लके बाहरकी बात है कि कोई होशहवासमें रहकर भी किसी तरहकी सुसंघटित सरकारके बदले अंधेरखाता चाहे, क्योंकि एकमें अगर किसी भांतिके ऊपरसे लादे या आप बनाये, संयम नियमका पता है भी तो दूसरा तो आत्म-संयमका बिलकुल उलटा ही है। अंधेरखाता भगवानके शब्दकोशमें भले ही हो। मनुष्यके मुंहमें तो उसके कोई मानी ही नहीं हो सकते और वह वैसा ही खतरनाक मुबालगा ( अतिशयोक्ति ) और मति-भ्रम है, जैसा 'इन्डिपेन्डन्स' शब्द है, जिसके विरुद्ध आपने वाजिब ही कमर कसी। इसके अलावा, मुझे यह भी जान पड़ता है और खुद आपने भी यह इतनी बार स्वीकार किया है कि बुद्धिमानी इसीमें है कि आदमी उन कामो और शब्दोंसे दूर रहे, जिनसे अनजान लोगोंको गलत रास्ते ले जानेका मतलब न होते हुए भी, उनके जानेका भय हो और वे बेशक इस शब्दके ऐसे अर्थ लगायेंगे, जिनकी कल्पना भी आपको न होगी। हर एक वहशी आदमी, अहिंसाकी आपकी शर्तोंको समझे बिना, इसीपर जोर देगा। जैसा आपका दावा है, अगर अहिंसा स्वभावसे ही, रचनात्मक, सार्थक और दिव्य वस्तु हो तो, उसका नतीजा, या खासियत, कभी अंधेर नहीं हो सकता। अगर आपने सोच समझकर यह शब्द लिखा है तो मैं यही कहूँगा कि आपने मनुष्य-जातिकी कोई सेवा नहीं की है। उन्हें जरूरत इस बातकी याद दिलानेकी है कि हमें विश्व-दृष्टि पैदा करनी चाहिये न कि जिसकी ओर उनका स्वाभाविक ही झुकाव होता है, उस असंयत, अनियमित अंधेरखाता की। अगर किसी और ऊंच भावनाके आदेशमें यह केवल भाषाकी ढिलाईके कारण हुआ है तो, मुझे आशा है कि बिचाव करनेपर आप अपना असल मतलब स्पष्ट करेंगे।"

इस पत्रमें छिपी लगनको तो भूला ही नहीं जा सकता। और इस मित्रके विचारोंके लिए मेरा इतना आदर है कि अगर उनके अनुकूल मैं अपने विचार बना सकता तो जरूर खुशीसे बना डालता।

मगर मुझे कहना ही पड़ेगा कि मैंने यह शब्द सोच समझकर चुना था। अंधेरखाताका अर्थ है—अनियम, अव्यवस्था। नियम और व्यवस्थाका जन्म

अनियम और अव्यवस्थासे होता है किन्तु सीधे उस कु-नियम और कु-व्यवस्थासे कभी नहीं, जो नियम और व्यवस्थाके भेसमें प्रचलित हों। मैं मानता हूँ कि इस मित्रकी कठिनाई इस मान्यताके कारण हुई है कि भारत सरकार आज 'किसी न किसी भांतिके ऊपरसे लादे या आप बनाये नियम और व्यवस्थाका प्रतिरूप है।' सम्भवतः वर्तमान शासन-पद्धतिके बारेमें हमारे विचारोंमें फर्क हो। मेरा अपना ख्याल यह है कि यह बिलकुल ही बुरी है। इसलिए बुराईसे भलाई नहीं हो सकती। मैं कु-शासन या कु-राज्यको अ-शासन या अ-राजकतासे बुरा मानता हूँ।

फिर मेरे शब्दोंसे अनजान अथवा हिंसा-प्रिय लोगोंके मनमें भ्रान्ति नहीं हो सकती। क्योंकि मैं पत्र-लेखककी बात कबूल करता हूँ कि अंधेरखाता तो केवल हिंसाका ही फल हो सकता है। क्या मैंने अनेक बार इन पृष्ठोंमें लिखा नहीं है कि अगर मुझे इस सरकार और हिंसामेंसे एक चुनना ही पड़े तो मैं हिंसाको ही पसन्द करूँगा जो कि मैं हिंसाके आधारपर चलते हुए युद्धमें सहायता नहीं करूँगा, कर नहीं सकूँगा। मेरे लिए तो इसमें दूसरा रास्ता ही नहीं। आजकी शान्ति तो हिंसाका खतरनाक रूप है जो उससे भी बड़ी हिंसा या बड़ी हिंसा करनेकी तैयारीके नीचे दबायी हुई है। क्या यह अच्छा नहीं होगा कि जो मौतके या घरबार छिन जानेके कायर भयसे, मनमें हिंसासे कुढ़ते हुए भी, जब्र किये हुए हैं; हिंसा कर लें और गुलामीसे या तो स्वतंत्र हो जायँ या अपने जन्मसिद्ध अधिकारोंको लेनेके प्रयत्नमें मर जायँ।

मेरी अहिंसा कोई किताबी सिद्धान्त नहीं है जो अनुकूल अवसर देखकर बतलायी जाय। यह वैसा सिद्धान्त है, जिसे मैं सभी कार्यक्षेत्रोंमें लानेका प्रयत्न अपने जीवनके प्रत्येक क्षणमें कर रहा हूँ। अहिंसाको घुसानेकी मेरी कोशिश प्रायः मेरी अपनी ही कमजोरी या अज्ञानके कारण चौपट हो जाती है। उस समय मुझे अपने इसी ध्येयकी खातिर हिंसाको मनसे ही मंजूर करके उसे सहन करना पड़ता है। १९२१ में मैंने बेतियाके निकट गांववालोंसे कहा कि तुमने बुरे मतलबवाले अमलोंका विरोध न करके उनके आनेपर भाग जानेमें कायरता दिखलायी है। एक दूसरे अवसरपर किसी पुजारीके कारण मैं शर्मिन्दा हुआ था। जिसने कहा कि कुछ बदमाशोंके मंदिर लूटने और मूर्ति तोड़नेके लिए आनेपर मैं चुपचाप जान लेकर भाग निकला। मैंने उससे कहा कि अगर तुम अपनी जगहपर अहिंसा भावसे डटे रहकर अपनी मूर्तिकी रक्षामें मर नहीं सकते थे, तो तुम्हें दूसरोंको मारकर भी मूर्तिकी रक्षा करनी चाहिये थी। इसी भाँति मैं मानता हूँ कि वर्तमान कु-शासनसे हिंसाके जरिये भी हिन्दुस्तानकी स्वतंन्त्रता लेना अच्छा है, बनिस्बत इसके कि उसका धन और इज्जत दिन रात लूटी जाती रहें और वह असहाय होकर तमाशा देखे।

जरा देखिये तो कि किस बेशर्म तरीकेसे ब्रिटिश राजनितिज्ञ (?)

हिन्दुस्तानकी अपनी लूटपाट जारी रखनेके लिए एक दलको दूसरेसे लड़ा रहे हैं। उन्हें आज अचानक अछूतोंका पता लग गया है क्योंकि जान पड़ता है कि उन्हें डर है कि केवल हिन्दू-मुसलिम झगड़ोंसे ही 'ब्रिटिश ताजके सबसे चमकदार हीरे' का सुरक्षित रहना शायद मुश्किल हो। वे असहाय नरेशोंको लोगोंसे लड़ानेकी कोशिश कर रहे हैं। सर जान साइमनको भी यही चाल चलनी आवश्यक जान पड़ती है। कहा जाता है कि उनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण और रहस्य-भेदिनी है। किन्तु उनके सम्मानके लिए रचे हुए बहुत ही महीन पर्देको वह छेद नहीं सकती। उन्हें भारतीय वाताकाशमें कोई बात बिगड़ी हुई नहीं मिलती। इस भांतिके 'सुव्यवस्थित अंकुश' ने तो प्रजाको इतना नामर्द और अशक्य कर दिया है, जितना उसके पूर्व इतिहासकी घटनाने उन्हें नहीं किया था।

मेरी अपनी स्थिति और विश्वास, दोनों स्पष्ट और बेदुविधाके हैं। मैं न तो वर्तमान शासन चाहता हूँ और न अंधेरखाता ही। मैं अंधेरके रास्तेसे गुजरे बिना, सच्ची सुव्यवस्था स्थापित देखना चाहता हूँ। मैं इस अव्यवस्थाको अहिंसासे नष्ट करना चाहता हूँ। यानी बुराई करनेवालोंका मत ही बदलना चाहता हूँ। इसी कामके लिए मेरा जीवन समर्पित है। और ऊपर जो कुछ मैं लिख आया हूँ, वह अहिंसाके मेरे ज्ञानसे सीधे निकलता है। अहिंसासे बड़ी शक्ति मनुष्य जातिको मालूम नहीं है। इसकी शक्ति या प्रभावशीलतामें मेरा विश्वास अटल है और उसी भाँति मेरा यह विश्वास भी अचल है कि केवल अहिंसाके ही जरिये स्वतन्त्र होनेकी शक्ति हिन्दुस्तानमें है। मगर सत्य या सच्ची बातोंको छिपानेसे, चाहे वे इस घड़ी कितनी ही बुरी क्यों न मालूम हों, शक्ति नहीं मिल सकती। भगवान् न करें हिन्दुस्तानको अहिंसाका पाठ पूरा-पूरा पढ़नेके पहले खूनी लड़ाई लड़नी पड़े। मगर यह बीचकी सीढ़ी, जो प्रायः जरूरी जान पड़ती है, उसके भी भाग्यमें बदी हो तो उसे अपनी मुक्तिके मार्गमें उसमेंसे भी जरूर ही गुजरना पड़ेगा और वह आजकी वर्तमान व्यवस्थासे तो जरूर ही अच्छी गिनी जायगी। आजकी व्यवस्था तो महज एक उजला कफन है, जिसके नीचे केवल हिंसा ही हिंसा छिपी हुई है।

हिन्दी नवजीवन
१ मार्च, १९२८

*

"शक्ति शारीरिक क्षमतासे नहीं उत्पन्न होती, वह अजेय संकल्प ( या इच्छा ) से उत्पन्न होती है।"

—गांधीजी

# युद्ध और अहिंसा

यूरोपीय महासमरमें ब्रिटिश साम्राज्यको जो सहायता देनेका उल्लेख मैंने अपने 'सत्यके प्रयोगों'में किया है, उसके सम्बन्धमें एक भाई निम्नलिखित पत्र लिखते हैं—

"आपने अपनी 'आत्मकथा'के चौथे भागके ३८ वें अध्यायमें पहले पहल यूरोपीय महासमरमें अपने शामिल होनेका जिक्र किया है। इसकी योग्यताके विषयमें मुझे शंका है। मेरा ख्याल है कि मैं शायद आपका मतलब ही ठीक ठीक नहीं समझ सका हूँ। इसलिए प्रार्थना है कि आप कृपाकर मेरी शंकाओंका समाधान कर दें।

"पहला प्रश्न है :

"आपको दर असल लड़ाईमें शामिल होनेके लिए किस बातने प्रेरित किया? आप कहते हैं—

इसलिए अगर मुझे उस राज्यके साथ आखिर सरोकार रखना हो, उस राज्यकी छत्र-छायाके नीचे रहना हो तो या तो मुझे खुले तौर पर युद्धका विरोध करके जबतक उसकी युद्धनीति न बदले तबतक सत्याग्रहके शास्त्रके अनुसार उसका बहिष्कार करना चाहिये अथवा भंग करना योग्य हो तो मैं ऐसे कानूनोंका सविनय-भंग करके जेलका रास्ता ढूँढ़ना चाहिये अथवा मुझे युद्ध-प्रवृत्तिमें भाग लेकर उसका विरोध करनेकी शक्ति और अधिकार प्राप्त करना चाहिये। ऐसी शक्ति मुझमें नहीं थी। इसलिए मैंने माना कि मेरे पास युद्धमें भाग लेनेका ही रास्ता बचा है।' ( भाग ४, अध्याय ३९: )

"आप युद्धमें शरीक होकर युद्धकी हिंसाका विरोध करनेके लिए कौन-सी योग्यता, कौन-सी शक्ति प्राप्त करना चाहते थे?

"मैं देखता हूँ कि लड़नेवाले दूसरे देशोंके निवासियोंकी बनिस्पत आपकी स्थिति न्यारी थी। वे तो सेनामें भर्ती किये जा सकते थे किन्तु आप नहीं और इसलिए निष्क्रिय प्रतिरोधका रास्ता आपके लिए स्वभावतः ही नहीं खुला हुआ था। तब जब आपकी कोई स्थिति नहीं थी, सार्वजनिक रूपसे युद्धका विरोध करना तो न करनेसे भी बुरा होता। तब आखिर नितान्त आवश्यक लाचार शराकतसे जरा भी अधिक शराकत क्यों करें।

"गोकि ऊपरके उद्धारणसे जान पड़ता है कि आप युद्धका विरोध कर सकनेकी ताकत पैदा करनेके लिए लड़ाईमें शरीक हुए किन्तु दूसरी जगहोंमें आप खुलासा कहते हैं कि आपको उम्मेद थी कि लड़ाईमें शामिल होनेसे आपकी अपनी और आपके देशकी स्थिति अच्छी होगी—और यह पढ़कर जान पड़ता है कि यह उन्नति महज लड़ाईका विरोधभर करनेके लिए ही नहीं थी।



गांधीजीकी यह कांस्य-मूर्ति सदैव अहिंसाकी प्रेरणा देती रहेगी



अहिंसा मूर्ति

"और इसीमेंसे दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि कुछ भी पानेके लिए लड़ाईमें योग देना ही उचित था ?

"मेरी समझमें नहीं आता कि गीताकी शिक्षासे इस बातका मेल किस तरह बैठाऊँ। गीतामें तो कहा है कि फलका विचार त्याग कर कर्म करना चाहिये।

"सारे अध्यायमें आपने यही दलील इस्तेमाल की है कि ब्रिटिश साम्राज्यकी सहायता की जाय अथवा नहीं। और मैं समझता हूं कि मूलतः सवाल व्यक्तिगत रूपमें उठा होगा। किन्तु यह इस किनारे तक ले ही जाता है कि युद्धके रूपमें युद्धमें हमें योगदान करना चाहिये या नहीं ?"

बेशक लड़ाईमें योगदानके लिए मुझे प्रेरित करनेवाला उद्देश्य मिश्रित था। दो बातें मैं याद करता हूं। गोकि व्यक्तिगत रूपसे मैं लड़ाईके विरुद्ध था किन्तु मेरी ऐसी स्थिति नहीं थी कि मेरे विरोधका असर पड़ सके। अहिंसामय विरोध तभी हो सकता है जब विरोध करनेवालेने विरोधीकी पहले कुछ सच्ची निःस्वार्थ सेवा की हो, सच्चे हार्दिक प्रेमका प्रदर्शन किया हो। जैसे किसी जंगली आदमीको पशुका बलिदान करनेसे रोकनेके लिए मेरी तब-तक कोई स्थिति नहीं होगी, जब-तक किसी सेवा या मेरे प्रेमके कारण वह मुझे अपना मित्र न समझ ले। दुनियाके पापोंका न्याय करने मैं नहीं बैठता हूं। स्वयं असंपूर्ण होनेके कारण, और चूँकि खुद मुझीको औरोंकी सहनशीलता तथा उदारताकी दरकार है, मैं संसारकी कच्चाइयों या असंपूर्णताओंको तब-तक सहन करता रहता हूं जब-तक उनपर प्रकाश डालनेका अवसर मैं नहीं पाता या बना नहीं लेता हूँ। मुझे लगा कि अगर मैं यथेष्ट सेवा करके वह शक्ति, वह विश्वास पैदा कर लूँ कि साम्राज्यके युद्धों, और युद्धकी तैयारियोंको रोक सकूँ तो मेरे जैसे आदमीके लिए यह बड़ी अच्छी बात होगी जो खुद अपने ही जीवनमें अहिंसाका व्यवहार करना चाहता है तथा यह भी जाँचना चाहता है कि सामूहिक रूपमें इसका कहाँ तक उपयोग किया जा सकता है।

दूसरा उद्देश्य साम्राज्यके राजनीतिज्ञोंकी सहायतासे स्वराज्यकी योग्यता पैदा करनेका था। साम्राज्यके इस जीवन-मरणकी समस्यामें उसे सहायता दिये बिना यह योग्यता मुझमें आ नहीं सकती थी। यहां यह भी समझ लेना चाहिये कि मैं सन् १९१४ की अपनी मानसिक स्थितिकी बात लिख रहा हूँ जब कि मैं ब्रिटिश साम्राज्य और हिन्दुस्तानके उसके स्वेच्छापूर्वक सहायता देनेकी बातमें विश्वास करता था। अगर मैं तब भी आजके जैसा अहिंसक विद्रोही होता तो अवश्य ही सहायता न देता और अहिंसाके जरिये जिस-जिस तरह उनका उद्देश्य चौपट होता, करनेकी सभी कोशिशें करता।

युद्धके प्रति मेरा विरोध और उससें अविश्वास तब भी आजके ही जैसे

सबल थे। मगर हमें यह मानना पड़ता है कि हम बहुतसे काम करना नहीं चाहते मगर तो भी उन्हें करते ही हैं। मैं छोटेसे छोटे सजीव प्राणीको मारनेके उतना ही विरुद्ध हूँ, जितना लड़ाईके। किन्तु मैं निरंतर ऐसे जीवोंके प्राण इस आशामें लिये चला जाता हूँ कि किसी दिन मुझमें यह योग्यता आ जायगी कि मुझे यह हत्या न करनी पड़े। यह सब होते रहनेपर भी अहिंसाका हिमायती होनेका मेरा दावा सही होनेके लिए यह परमावश्यक है कि मैं इसके लिए सचमुचमें जी-जानसे और अविराम प्रयत्न करता रहूँ। मोक्ष अथवा सशरीरी अस्तित्वकी आवश्यकतासे मुक्तिकी कल्पनाका आधार है संपूर्णताको पहुँचे हुए पूर्ण अहिंसक स्त्री पुरुषोंकी आवश्यकता। सम्पत्ति-मात्रके कारण कुछ न कुछ हिंसा करनी ही पड़ती है। शरीर रूपी संपत्तिकी रक्षाके लिए भी चाहे जितनी थोड़ी, किन्तु हिंसा तो करनी ही पड़ती है। बात यह है कि कर्त्तव्योंके धर्म-संकटमेंसे सच्चा मार्ग ढूंढ़ लेना सहज नहीं है।

अन्तमें, गीताकी उस शिक्षाके दो अर्थ हैं। एक तो यह है कि हमारे कामोंके मूलमें कोई स्वार्थी उद्देश्य नहीं होना चाहिये। स्वराज्य लेनेका उद्देश्य स्वार्थपूर्ण नहीं है। दूसरे, कर्मफलका मोह छोड़नेका अर्थ यह नहीं है कि उनसे अनभिज्ञ रहा जाय या उनकी उपेक्षाकी जाय या उनका विरोध किया जाय। मोह रहित होनेका अर्थ यह कभी नहीं है जिसमें अपेक्षित फल न आवे, इसलिए कर्म करना ही छोड़ दिया जाय। इसके उलटे मोह-राहित्य ही इस अचल श्रद्धाका प्रमाण है कि सोचा हुआ फल अपने समयपर जरूर होगा ही।

हिन्दी नवजीवन

१५ मार्च, १९२८

❀

"मैं तो शुरूसे यह मानता आया हूं कि अहिंसा ही धर्म है, वही जिंदगीका एक रास्ता है।"

—गांधीजी

# अहिंसा किसे कहें ?

कई हफ्तोंसे गुजरात विद्यापीठमें हर शनिवारको विद्यार्थियोंको एक घण्टा देकर मैं बहुत वर्षोंके चढ़े ऋणके ब्याजका कुछ हिस्सा भरता हूं। उसमें पहला कार्यक्रम था अध्यापकों या विद्यार्थियोंके कुछ प्रश्न पूछनेका। उन प्रश्नोंका पूरा उत्तर देनेका समय नहीं निकाल सका, तब-तक तो मुझसे कोई पुस्तक पढ़ानेको कहा गया और पिछले कई हफ्तोंसे 'हिन्द स्वराज' का पढ़ना जारी है। मुझसे पूछे गये कई प्रश्न महत्वपूर्ण हैं और इसलिए मैंने उन्हें लिख लिया है। उनका उत्तर 'नवजीवन' में देनेका इरादा है। ये प्रश्न ऐसे हैं कि विद्यार्थियोंके अलावा दूसरोंके लिए भी उपयोगी हैं। उनमेंसे एक प्रश्न यह रहा—

"अहिंसाकी चर्चा शुरू हुई नहीं कि कितने लोग बाघ, भेड़िया, साँप, बिच्छू, मच्छर, खटमल, जूं, कुत्ता आदिको मारने, न मारने अथवा आलू-बैंगन आदिको खाने न खानेको ही बात छेड़ते हैं।"

"नहीं तो फौज रखी जा सकती है कि नहीं, सरकारके विरुद्ध सशस्त्र बलवा किया जा सकता है या नहीं—आदि शास्त्रार्थमें उतरते हैं। यह तो कोई विचारता ही नहीं, सोचता ही नहीं कि शिक्षामें अहिंसाके कारण कैसी दृष्टि पैदा करनी चाहिये। इस सम्बन्धमें कुछ विस्तारपूर्वक कहिये।"

यह प्रश्न नया नहीं है। मैंने इसकी चर्चा 'नवजीवन' में इस रूपमें नहीं तो दूसरे ही रूपमें अनेक बार की है। किन्तु मैं देखता हूं कि अबतक यह सवाल हल नहीं हुआ है। इसे हल करना मेरी शक्तिके बाहरकी बात है। उसके हलमें यत्किंचित् हिस्सा दे सकूँ तो उतनेसे ही मैं अपनेको कृतार्थ मानूँगा।

प्रश्नका पहला भाग हमारी संकुचित दृष्टिका सूचक है। जान पड़ता है कि इस फेरमें पड़कर कि मनुष्येतर प्राणियोंको मारना चाहिये या नहीं, हम अपने सामने पड़े हुए रोजके धर्मको भूल जाते हुएसे लगते हैं। सर्पादिको मारनेके प्रसंग सबको नहीं पड़ते हैं। उन्हें न मारने योग्य दया या हिम्मत हमने नहीं पैदा की है। अपनेमें रहनेवाले क्रोधादि सर्पोंको हमने दयासे, प्रेमसे नहीं जीता है, तो भी हम सर्पादिकी हिंसाकी बात छेड़कर उभय-भ्रष्ट होते हैं। क्रोधादिको तो जीतते नहीं और सर्पादिको न मारनेकी शक्तिसे वंचित रह कर आत्मवंचना करते हैं। अहिंसा-धर्मका पालन करनेकी इच्छा रखनेवालोंको साँप आदिको

भूल जानेकी जरूरत है। उन्हें मारनेसे हालमें न छूट सकें तो इसका दुःख न मानते हुए, सार्वभौम प्रेम पैदा करनेकी पहली सीढ़ीके रूपमें मनुष्योंके क्रोध द्वेषादिको सहन कर उन्हें जीतनेका प्रयत्न करें।

आलू और बैंगन जिसे न खाने हों, वह न खाय। मगर यह बात कहते हुए भी हम लज्जित हों कि उसे न खानेमें महापुण्य है या उसमें अहिंसाका पालन है। अहिंसा खाद्याखाद्यके विषयसे परे है। संयमकी आवश्यकता सदा है। खाद्यपदार्थोंमें जितना त्याग करना हो उतना सभी कोई करें। वह त्याग भला है, आवश्यक है, मगर उसमें अहिंसा तो नाममात्रकी ही है। पर-पीड़ा देखकर दयासे पीड़ित होनेवाला, रागद्वेषादिसे दूर, नित्य कन्द-मूलादि खानेवाला आदमी अहिंसाका मूर्तिरूप और वंदनीय है। परपीड़ाके सम्बन्धमें उदासीन, स्वार्थका वशवर्ती, दूसरेको पीड़ा देनेवाला, रागद्वेषादिसे भरा हुआ कंद-मूलादिका हमेशेके लिए त्याग करनेवाला मनुष्य तुच्छ प्राणी है, अहिंसा-देवी उससे भागती ही फिरती है।

राष्ट्रमें फौजका स्थान हो सकता है या नहीं, सरकारके विरुद्ध शरीरबल लगाया जा सकता है या नहीं—ये अवश्य महाप्रश्न हैं और किसी दिन हमें इन्हें हल करना ही होगा। कहा जा सकता है कि महासभाने अपने कामके लिए उसके एक अंगको हल किया है। तो भी यह प्रश्न जनसाधारणके लिए आवश्यक नहीं है। इसलिए शिक्षाके प्रेमी और विद्यार्थीके लिए अहिंसाकी जो दृष्टि है, वह मेरी रायमें ऊपरके दोनों प्रश्नोंसे भिन्न है अथवा परे है। शिक्षामें जो दृष्टि पैदा करनी है वह परस्परके नित्य सम्बन्धकी है। जहां वातावरण अहिंसारूपी प्राणवायुके जरिये स्वच्छ और सुगंधित हो चुका है, वहांपर विद्यार्थी और विद्यार्थिनियाँ सगे भाई-बहनके समान विचरती होंगी, वहाँ विद्यार्थियों ओर अध्यापकोंके बीच पिता-पुत्रका सम्बन्ध होगा, एक दूसरेके प्रति आदर होगा। ऐसी स्वच्छ वायु ही अहिंसाका नित्य, सतत पदार्थ-पाठ है। ऐसे अहिंसामय वातावरणमें पले हुए विद्यार्थी सबके प्रति उदार होंगे, वे सहज ही समाजसेवाके लिए लायक होंगे। उनके लिए सामाजिक बुराइयों, दोषोंका अलग प्रश्न नहीं होगा। अहिंसारूपी अग्निमें वह भस्म हो गया होगा। अहिंसाके वातावरणमें पला हुआ विद्यार्थी क्या बाल-विवाह करेगा? अथवा कन्याके मा बापको दंड देगा? अथवा विवाह करनेके बाद अपनी पत्नीको दासी गिनेगा? अथवा उसे अपने विषयका भाजन मानेगा? और अपनेको अहिंसक मनवाता फिरेगा? अथवा ऐसे वातावरणमें शिक्षित युवक सहधर्मी या परधर्मीके साथ लड़ाई लड़ेगा?

अहिंसा प्रचंड शस्त्र है। उसमें परम पुरुषार्थ है। वह भीरुसे दूर दूर

भागती है। वह वीर पुरुषकी शोभा है। उसका सर्वस्व है। यह शुष्क, नीरस, जड़ पदार्थ नहीं है। यह चेतनमय है। यह आत्माका विशेष गुण है। इसीलिए इसका वर्णन परम-धर्मके रूपमें किया गया है। इसलिए शिक्षामें अहिंसाकी दृष्टि है, शिक्षणके प्रत्येक अंगमें, नित्य नया लगता हुआ, उछलता, उभरता, शुद्धतम प्रेम। इस प्रेमके सामने बैरभाव टिक ही नहीं सकता। अहिंसा-रूपी प्रेम सूर्य है, बैर-भाव घोर अन्धकार है। जो सूर्य टोकरेके नीचे छिपाया जा सके तो शिक्षामें रही हुई अहिंसा-दृष्टि भी छिपायी जा सकती है। ऐसी अहिंसा अगर विद्यापीठमें हमें प्रकट होगी तो फिर वहां अहिंसाकी परिभाषा किसीके लिए पूछनी आवश्यक ही नहीं होगी।

हिन्दी नवजीवन

१३ सितम्बर, १९२८

❀

"अहिंसा प्रचंड शस्त्र है। उसमें परम पुरुषार्थ है। वह भीरुसे दूर भागती है। वह वीर पुरुषकी शोभा है, उसका सर्वस्व है। यह शुष्क, नीरस, जड़ पदार्थ नहीं है। यह चेतन है। यह आत्माका विशेष गुण है।" —गांधीजी

# युद्धके प्रति मेरे भाव

[ गांधीजीके दक्षिण अफ्रीकामें बोअर-युद्धके समय तथा यूरोपियन महासमरमें सरकारको सहायता देनेके संबंधमें एक यूरोपियन मित्र रेवरेंड बी. डे. लिग्टने किसी फ्रांसीसी पत्रमें एक लेख लिखकर कुछ सवाल पूछे हैं। गाँधीजी उनका जवाब यों देते हैं—]

सिर्फ अहिंसाकी कसौटीपर कसनेसे मेरे आचरणका बचाव नहीं किया जा सकता। अहिंसाकी दृष्टिसे, शस्त्र धारणकर मारने-वालोंमें और निःशस्त्र रहकर घायलोंकी सेवा करनेवालोंमें मैं कोई फर्क नहीं देखता हूं। दोनों ही लड़ाईमें शामिल होते हैं और उसीका काम करते हैं। दोनों ही लड़ाईके दोषके दोषी हैं। मगर इतने वर्षोंतक आत्म-निरीक्षण करनेके बाद भी मुझे यही लगता है कि मैं जिस परिस्थितिमें था, मेरे लिए वही करना लाजिम था जो मैंने बोअर-युद्ध, यूरोपियन-महासमर, और जूलू-बलवेके समय भी सन् १९०६ में किया था।

जीवनका संचालन अनेक शक्तियों द्वारा होता है। अगर कोई ऐसा सर्व-सामान्य नियम होता कि उसका प्रयोग करते ही हर प्रसंगमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय करनेके लिए क्षणमात्र भी सोचना नहीं पड़ता तो क्या ही सरलता होती! मगर मेरे जानते तो ऐसा एक भी अवसर नहीं है।

मैं स्वयं युद्धका पक्का विरोधी हूं इसलिए मैंने अवसर मिलनेपर भी कभी मारक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करना नहीं सीखा है। शायद इसीलिए मैं प्रत्यक्ष नर-नाशसे बच सका हूं। मगर जब तक मैं पशुबलपर स्थापित सरकारके अधीन रहता था और उसकी बनायी सुविधाओंका स्वेच्छासे उपयोग करता था तबतक तो अगर वह कोई लड़ाई लड़े तो उसमें उसकी मदद करना मेरे लिए लाजिमी था। मगर जब उससे असहयोग कर लूँ, और जहांतक अपना वश चल सके, उसकी दी सुविधाओंका त्याग करने लगूँ तब उसकी मदद करना मेरे लिए लाजिमी नहीं रहता है।

एक उदाहरण लीजिये। मैं एक संस्थाका सभ्य हूँ। उस संस्थाके कुछ खेती है। यह आशंका है कि उस खेतीको बन्दर नुकसान पहुंचावेंगे। मैं मानता हूँ कि सभी प्राणियोंमें आत्मा है, और इसलिए बन्दरोंको मारना हिंसा समझता हूँ। परन्तु फसलको बचानेके लिए बन्दरोंपर हमला करनेको कहने या करनेसे मैं नहीं झिझकता हूँ। मैं इस बुराईसे बचना चाहूँगा। उस संस्थाको छोड़कर या तोड़कर, मैं इस बुराईसे बच सकता हूँ। मगर यह मैं नहीं करता क्योंकि इसकी मुझे आशा नहीं है कि वहांसे हटनेपर मुझे कोई ऐसा समाज मिल सकेगा जहां खेती न होती

हो, इसलिए किसी किस्मके प्राणियोंका कभी नाश न होता। इसलिए यद्यपि यह करते हुए मुझे दर्द होता है मगर इस आशामें कि किसी दिन इस बुराईसे बचनेका रास्ता मुझे मिल जायगा, मैं दीनताके साथ, डरते हुए और काँपते हुए दिलसे बंदरों पर चोट पहुँचानेमें शामिल होता हूँ।

इसी तरह मैं तीनों युद्धोंमें भी शामिल हुआ था। जिस समाजका मैं एक सभ्य हूँ उससे अपना संबंध मैं तोड़ नहीं सकता था। तोड़ना पागलपन होता। इन तीनों अवसरोंपर ब्रिटिश सरकारके साथ असहयोग करनेका मेरा कोई विचार न था। अब उस सरकारके संबंधमें मेरी स्थिति बिलकुल ही बदल गयी है और इस-लिए उसके युद्धोंमें मैं भरसक अपनी खुशीसे शामिल नहीं होऊँगा तथा अगर शस्त्र धारण करने या और किसी तरहसे उसमें शामिल होनेको बाध्य किया जाऊँ तो मैं भले ही कैद किया जाऊँ या फाँसी चढ़ा दिया जाऊँ, मगर शामिल तो नहीं ही हूँगा।

मगर इससे प्रश्न अभी हल नहीं होता है। अगर यहांपर राष्ट्रीय सर-कार होवे तो मैं भले ही उसके भी किसी युद्धमें शामिल न होऊँ, तोभी मैं ऐसे अव-सरकी कल्पना कर सकता हूँ जब सैनिक-शिक्षण पानेकी इच्छा रखनेवालेको वह शिक्षण देनेके पक्षमें मत देना मेरा कर्त्तव्य होवे। क्योंकि मैं जानता हूँ कि अहिंसामें जिस हदतक मेरा विश्वास है, उस हदतक इस राष्ट्रके सभी आदमी अहिंसामें विश्वास नहीं करते हैं। किसी समाज या आदमीको बलात्कार अहिंसक नहीं बनाया जा सकता है।

अहिंसाका रहस्य अत्यन्त गूढ़ है। कभी-कभी तो अहिंसाकी दृष्टिसे किसी आदमीके कामकी परीक्षा करना कठिन हो जाता है। उसी तरह कभी-कभी उसके काम हिंसा जैसे भी लग सकते हैं जब वे अहिंसाके व्यापकसे व्यापक अर्थसे अहिंसक ही हों और पीछे चलकर अहिंसक ही साबित भी होवें। इसलिए उपर्युक्त अवसरोंपर अपने व्यवहारके बारेमें मैं सिर्फ इतना ही दावा कर सकता हूँ कि उनके मूलमें अहिंसाकी ही दृष्टि थी। उनके मूलमें कोई बुरा राष्ट्रीय या दूसरा स्वार्थ नहीं था। मैं यह नहीं मानता कि किसी एक हितका बलिदान चढ़ाकर राष्ट्रीय या किसी दूसरे हितकी रक्षा करनी चाहिये।

मुझे अपनी यह दलील अब और आगे नहीं बढ़ानी चाहिए। आखिर अपने विचार पूरे-पूरे प्रकट करनेके लिए भाषा एक मामूली त्रुटिपूर्ण साधन भर है। मेरे लिए अहिंसा कुछ महज दार्शनिक सिद्धान्त भर ही नहीं है। यह तो मेरे जीवनका नियम है, इसके बिना मैं जी ही नहीं सकता। मैं जानता हूं कि मैं गिरता हूं। बहुत बार चेतनावस्थामें। उससे भी अधिक बार अचेतन अवस्थामें। यह प्रश्न बुद्धिका नहीं बल्कि हृदयका है। सन्मार्ग तो परमात्माकी सतत प्रार्थनासे,

अतिशय नम्रतासे, आत्म-विलोपनसे, आत्म-त्याग करनेको हमेशे तैयार बैठे रहनेसे मिलता है। इसकी साधनाके लिए ऊँचेसे ऊँचे प्रकारकी निर्भयता और साहसकी आवश्यकता है। मैं अपनी निर्बलताओंको जानता हूं और मुझे उनका दुःख है।

मगर मेरे मनमें कोई दुबिधा नहीं है। मुझे अपने कर्त्तव्यका स्पष्ट भान है। अहिंसा और सत्यको छोड़कर, हमारे उद्धारका कोई दूसरा रास्ता नहीं है। मैं जानता हूं कि युद्ध एक तरहकी बुराई है और शुद्ध बुराई है। मैं यह भी जानता हूँ कि एक दिन इसे बंद होना ही है। मेरा पक्का विश्वास है कि खून-खराबी या धोखेबाजीसे ली गयी स्वाधीनता, स्वाधीनता ही नहीं है। इसकी अपेक्षा कि मेरे किसी कामसे अहिंसाका सिद्धान्त ही गलत समझा जाय या किसी भी रूपमें मैं असत्य और हिंसाका हामी समझा जाऊँ, यही हजार गुणा अच्छा है कि मेरे विरुद्ध लगाये गये सभी इल्जाम लाबचाव, असमर्थनीय समझे जायँ। संसार हिंसापर नहीं टिका है, असत्यपर नहीं टिका है किन्तु उसका आधार अहिंसा है, सत्य है।

हिन्दी नवजीवन
२० सितम्बर, १६२८

❃

अगर अहिंसा या प्रेम हमारा जीवन धर्म न होता, तो इस मर्त्यलोकमें हमारा जीवन कठिन हो जाता। जीवन तो मृत्युपर प्रत्यक्ष और सनातन विजयरूप है।"

—गांधीजी

# 'पावककी ज्वाला'—१ (अहिंसक प्राण-हरण )

गो-सेवा-संघकी ओरसे सत्याग्रहाश्रम आदर्श दुग्धालय, चर्मालय चलानेके प्रयोग कर रहा है। उसके संबंधमें क्षण-क्षण धर्मसकट आ खड़े होते हैं। अगर आश्रमका आदर्श केवल अहिंसाके ही मार्गसे सत्यकी शोध करनेका न होता तो ऐसे संकट उत्पन्न नहीं होते। कितने दिन हुए, आश्रमका एक अपंग बना हुआ बछड़ा, कष्टसे छटपटा रहा था। उसकी दवा की, पशु-डाक्टरकी सलाह ली। उन्होंने उसके जीनेकी आशा छोड़ दी। हम भी देख सके कि वह कष्टसे छटपटाता है। करवट बदलवानेमें भी उसे कष्ट होता था।

मुझे लगा कि ऐसी स्थितिमें इस बछड़ेका प्राण लेना ही धर्म है, अहिंसा है। मैंने साथियोंके साथ मस्लहतकी। उनमेंसे कितनोंने मेरी रायका समर्थन किया। फिर सारे आश्रमके लोगोंसे बातें की। उनमेंसे एक भाईने खूब दलीलसे सख्त विरोध किया, उसकी सेवा करनेका भार स्वयं अपने सिर लिया, और जब-तक उसका प्राण-हरण किया गया, तबतक उसकी सेवा करनेका भार उठाया और उन्होंने तथा कई बहिनोंने उसपरसे मक्खियाँ उड़ानेका काम किया।

इन भाईकी दलील यह थी कि जिसे प्राण देनेकी शक्ति न हो, उसे प्राण लेना भी नहीं चाहिये। मुझे यह दलील इस स्थानपर अ-स्थानसी लगी। जहाँ स्वार्थ-भावनासे कोई दूसरेका प्राणहरण करे वहाँ ऐसी दलीलको स्थान हो सकता है। अंतमें दीन भावसे किन्तु दृढ़तापूर्वक पासमें रहकर मैंने डाक्टरके द्वारा जहरकी पिचकारी डलवाकर बछड़ेका प्राणहरण किया। प्राण निकलनेमें दो मिनटसे कम समय लगा होगा।

मैं जानता था कि यह काम चालू लोकमतको पसन्द नहीं पड़ सकता। इसमें चालू लोकमत हिंसा ही देखेगा किन्तु धर्म लोकमतका विचार नहीं करता। मैंने तो यह सीखा है, और अनुभवके द्वारा अपने लिए सिद्ध किया है कि यही ठीक है कि जिसमें मैं धर्म देखता हूँ, मुझे उसीका आचरण करना चाहिये, चाहे भले ही उसमें दूसरा कोई अधर्म देखे। वास्तविक रीतिसे मेरा माना हुआ धर्म अधर्म भी हो सकता है किन्तु कितनी बार अनजानपनेसे भूल किये बिना भी धर्मका पता नहीं चलता है। अगर मैं लोकमतके वश होकर या किसी दूसरे भयके वश होकर जिसे धर्म मानूं, उसका आचरण न करूँ तो धर्माधर्मका निर्णय मैं किसी दिन नहीं कर सकूँगा और अंतमें धर्म-हीन हो जाऊँगा। ऐसे ही कारणोंसे प्रीतसने गाया है कि

'प्रेम-पंथ पावकनी ज्वाला भाळो पाछा भागे जोने'

अर्थात् 'प्रेम-पंथ आगकी लपट है। उसे देखकर ही लोग भागते हैं। अहिंसा-धर्मका पंथ प्रेम-पंथ है। इस पंथमें आदमीको बहुत बार अकेले ही विचार करना पड़ता है।

मैंने ये प्रश्न अपने मनमें विचारे और मित्रसे इनकी चर्चा की कि 'जैसी बात मैं बछड़ेके बारेमें करना चाहता हूं, वैसी अपने बारेमें चाहूँगा? मनुष्यके सम्बन्धमें ऐसा करनेको तैयार होऊंगा?' मुझे लगा कि दोनोंपर एक ही न्याय लागू होता है। मुझे यह स्पष्ट जान पड़ा कि यहाँ अगर 'यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्डे' का नियम लागू न हो तो बछड़ा मारा जा सकता है। ऐसे दृष्टान्तोंकी कल्पनाकी जा सकती है जब मारनेमें ही अहिंसा हो और न मारनेमें हिंसा। मान लो कि मेरी लड़की कोई राय देने लायक न हो। उसपर कोई आक्रमण करने आ जाय। मेरे पास उसे जीतनेका कोई दूसरा मार्ग मिले ही नहीं तो मैं लड़कीका प्राण लूँ और आक्रमणकारीके तलवारके वश होऊँ तो उसमें मैं शुद्ध अहिंसा देखता हूं। बीमारीसे दुःखित प्रियजनोंका हम नहीं मारते हैं सो इसलिए कि उनकी सेवा करनेके साधन हमारे पास होते हैं और उन्हें समझ होती है। किन्तु सेवा शक्य न हो, जीनेकी आशा ही न हो, रोगी बेसुध हो और महादुःख भोगता हो तो उसके प्राणहरणमें मैं लेशमात्र भी दोष नहीं देखता।

जिस तरह रोगीके भलेके लिए उसके शरीरमें चीरफाड़ करनेमें डाक्टर हिंसा नहीं करता, बल्कि शुद्ध अहिंसाका ही पालन करता है, उसी तरह मारनेमें भी अहिंसाका पालन हो सकता है। यह दलील की गयी है कि चीरफाड़में तो रोगीके अच्छे होनेकी संभावना है, जब प्राण-हरणमें रोगी मरेगा ही। किन्तु विचार करनेपर जान पड़ेगा कि दोनोंमें साध्य वस्तु एक ही है। प्राण लेकर और चीरफाड़ करके, शरीरमें रहनेवाली आत्माको दुःखमुक्त करनेकी सामान्य धारणा है। शरीरमें चीरफाड़ करके सुख शरीरको नहीं किन्तु आत्माको पहुंचाना है। आत्मारहित शरीरमें दुःख भोगनेकी शक्ति ही नहीं है।

मृत्यु-दंडका जो डर आजकल समाजमें दिखलायी पड़ता है, वह अहिंसा-धर्मके प्रचारमें बहुत बड़ी बाधक वस्तु है। किसीको गाली देना, उसका बुरा चाहना, उसका ताड़न करना, उसे कष्ट पहुँचाना, सभी कुछ हिंसा है। जो मनुष्य अपने स्वार्थके लिए दूसरेको कष्ट पहुँचाता है, उसके नाक-कान काटता है, उसे भर पेट खानेको नहीं देता है और दूसरी तरहसे उसका अपमान करता है, वह मृत्युदंड देनेवालेकी अपेक्षा कहीं अधिक निर्दयता दिखलाता है। जिसने अमृतसरकी गलीमें लोगोंको चींटीके समान पेटके बल चलाया, उसने उन्हें अगर मार डाला होता तो कम घातकी गिना जाता। अगर कोई यह माने कि पेटके बल चलनेवाले आज भी जिन्दा हैं, इसलिए पेटके बल

रँगवाना मृत्युदंडसे हलकी सजा है तो मुझे यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता है कि वह आदमी अहिंसाको नहीं जानता है। ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जब मनुष्यके लिए मृत्युका स्वागत ही करना अधिक उचित होता है। जो इस धर्मको नहीं समझते वे अहिंसाके मूल तत्वको नहीं जानते।

'हरिनो मारग छे शूरानो नहि कायरनुं काम जोने।'

अर्थात् 'धर्मका मार्ग शूरोंके लिए है, यहाँपर कायरोंका काम नहीं है।'

हमें ईश्वरके प्रति रोज यह प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ! असत्यका आचरण करके जीनेकी अपेक्षा, मुझे मौत ही देना।'

अहिंसा-धर्मका पालन करनेवाला अपने दुश्मनसे ऐसी प्रार्थना करेगा, 'हे दुश्मन! मेरा अपमान करने, मुझसे अमानुषी कर्म करानेके बदले तू मुझे मार ही डाल तो मैं तेरा गुण गाऊँ।'

ये दृष्टान्त दिखलानेका मतलब यह बतलाना है कि मृत्यु-दण्ड हमेशा हिंसा ही नहीं है। बछड़ेकी स्थितिमें पड़े हुए पशुका प्राण लेनेका मेल इन दृष्टान्तोंसे बैठेगा या नहीं यह भले ही जुदा विषय समझा जाय, इस विषयमें भले ही मत-भेद हो। यहाँ तो मुझे सिर्फ अहिंसाके विषयमें प्रचलित कितने ही भ्रम दिखलाने हैं।

केवल मरणमेंसे ही आदमीको या पशुको थोड़े समयके लिए बचा लेनेमें अहिंसा जरूर ही है—यह मान्यता वहम है और इससे आज देशमें घोर हिंसा होती हुई मैं देखता हूं। एक दुःखी, महापीड़ित पशुके प्राण लेनेसे जो आघात पहुंचा है, उसके साथ मैं जब असंख्य प्रकारकी चलती हुई निर्दयताके सम्बन्धमें उदासीनताका मिलान करता हूँ तब यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि हम अहिंसा-धर्मी हैं या हम अहिंसाके नामपर जान-बूझकर या अनजाने अधर्मका आचरण करनेवाले हैं।

हमारे अविचार और हमारी भीरुताके कारण मैं तो पग-पगपर हिंसा होती हुई देख रहा हूं। हमारी पिंजरापोलं और गोशालाएँ हिंसाका स्थान हो गई हैं। स्वार्थसे अंधे होकर हम रोज ही अपने पशुओंपर अत्याचार करते हैं, उन्हें कष्ट पहुंचाते हैं। उन्हें अगर जबान होती वे अवश्य कहेंगे, 'हमें इस तरह जो कष्ट देते हो, उसके बदले हमें मार ही डालो तो हम तुम्हारा यश गावें।' उनकी आँखोंमें ऐसी प्रार्थना तो मैंने अनेक बार देखी है।

इसपरसे यह कहा जा सका है कि स्वार्थके वश होकर या क्रोधमें किसी भी जीवको जो कष्ट दिया जाय या उसके अनिष्ट या प्राण-हरणकी इच्छा भी की

जाय तो वह हिंसा है। निःस्वार्थ बुद्धिसे, शान्त चित्तसे, किसी भी जीवकी भौतिक या आध्यात्मिक भलाईके लिए उसे जो दुःख दिया जाय या उसका प्राणहरण किया जाय वह शुद्ध अहिंसा हो सकती है। प्रत्येक दृष्टान्तका विचार करके ही यह कहा जा सकता है कि ऐसे दुःख या प्राण-हरण कब अहिंसक कहे जायँगे। अंतमें अहिंसाकी परीक्षाका आधार भावनापर रहता है।

हिन्दी नवजीवन
४ अक्टूबर, १९२८

❀

"अहिंसा कोई ऐसा गुण तो है नही जो गढ़ा जा सकता हो। यह तो एक अंदरसे बढ़नेवाली चीज है, जिसका आधार आत्यन्तिक व्यक्तिगत प्रयत्न है।"

—गांधीजी

## पावककी ज्वाला—२ (हिंसक प्राण-हरण)

प्रस्तुत दृष्टान्तसे उलटा एक दूसरा संकट आश्रमपर है। पहलेका निवारण हो सका है। दूसरेका अभी नहीं मिला है। आश्रममें बंदरोंका उपद्रव दिनोंदिन बढ़ता ही जाता है। वे फल, झाड़ और शाक-भाजीका नाश कर रहे हैं। इस उपद्रवसे बचनेका उपाय मैं खोज रहा हूँ। जो इस सम्बन्धमें रास्ता बतला सकते हैं, वैसे लोगोंकी सलाह ले रहा हूँ। मुझे अबतक कोई निर्दोष उपाय नहीं मिला है। किन्तु अनेक आदमियोंके साथ चर्चा करता हूँ और इसलिए शहरमें अनेक तरहकी अफवाह चल रही है और मेरे पास कई तीखे पत्र आये हैं। एक पत्र लेखक मानते हैं कि आश्रममें तीरसे बंदरोंको घायल किया जाता है और कितने बंदर मर भी गये हैं। यह खबर झूठी है। बंदरोंको हाँक निकालनेका प्रयत्न अवश्य चलता है। तीर भी काममें लाये गये हैं। किन्तु न कोई बंदर घायल किया गया है, और न कोई मरा है।

घायल करनेका काम खुद मेरे लिए असह्य है। अनिवार्य हो पड़े तो उन्हें मार डालनेकी चर्चा मैं कर रहा हूं। किन्तु यह प्रश्न बछड़ेके प्रश्नके समान सहज नहीं है।

बंदरको मार भगानेमें मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूं। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अगर मारना पड़े तो उसमें अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनों कालमें हिंसा ही गिनी जायगी। उसमें बंदरके हितका विचार नहीं है, किन्तु आश्रमके ही हितका विचार है।

देहधारी जीवमात्र हिंसासे ही जीते हैं। उसके परम-धर्मका दर्शक शब्द नकार वाचक निकला। जगत् यानी देहमात्र हिंसामय है। और इससे अहिंसा-प्राप्तिके लिए देहके आत्यंतिक मोक्षकी तीव्र इच्छा पैदा हुई।

हिंसाके बिना कोई देहधारी प्राणी जी ही नहीं सकता, जीनेकी इच्छा छूटती ही नहीं है, अनशन करके छूटनेकी इच्छा मनको नहीं है, देह अनशन करे और मन अनशन न करे तो यह अनशन दंभमें खपेगा, और आत्माको अधिक बंधनमें डालेगा। ऐसी दयावनी स्थितिमें रहकर जीनेकी इच्छा रखता हुआ जीव भला क्या करे? कैसी और कितनी हिंसा अनिवार्य गिने? समाजने कितनी ही हिंसाओंको अनिवार्य गिन कर व्यक्तिको विचार करनेके भारसे मुक्त किया। तोभी प्रत्येक जिज्ञासुके लिए अपना क्षेत्र जानकर उसे नित्य छोटा करनेका प्रयत्न तो करना बाकी रहा ही है।

इस दृष्टिसे सर्वव्यापी खेतीके धंधेमें रही हुई हिंसाकी मर्यादाका निश्चय अहिंसा-धर्मका पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले किसानको करना रहा है। मैं अपनेको किसान मानता हूं। मेरे सामने कोई सीधी लीक नहीं पिटी हुई है। प्रत्येक किसान बिना विचारे किसी न किसी तरहसे अपना गुजर चला ही लेता है। क्योंकि शिष्ट-वर्गने उसकी अवगणना की है। उनके जीवनमें भाग नहीं लिया है, दिलचस्पी नहीं ली है और इसलिए वे अपने जीवनमें उत्तरोत्तर उन्नति नहीं कर सके हैं।

इसलिए मेरे जैसे किसानको तो अपना मार्ग ढूंढ़कर, दूसरे किसान भाइयोंके, लिए हो सके तो, मार्गप्रदर्शक बनना रहा।

इस तरह खेतीपर लागू होनेवाले अनेक प्रश्न, जो नित्य पैदा होते हैं, उनमेंसे बंदरोंका अटपटा प्रश्न भी एक है।

किन्तु उसे मृत्युदण्ड देनेमें हिंसा तो है ही, इसलिए यह अन्तिम कार्रवाई करनेके पहले जितने लोगोंकी सलाह ली जा सके, उतनोंकी मैं लेना चाहता हूं। और 'नवजीवन' के पाठकोंमेंसे अगर कोई अनुभवी सज्जन आश्रमको रास्ता बतला सकेंगे तो वे उपकार करेंगे।

मैंने सुना है कि गुजरातके किसान ऐसे उपाय रखते हैं कि उन्हें देखते ही डरकर बंदर भाग जाते हैं और यों किसान मानते हैं कि हम अन्तिम हिंसासे बचें। यह सम्भव है किन्तु उसके बाद तो मरणदण्ड है ही। क्योंकि मैं जानता हूं कि बंदर ऐसे विचक्षण होते हैं कि जब वे समझ लेते हैं कि उन्हें कोई मारनेवाला नहीं है, तब वे गोलीकी बाढ़से भी नहीं डरते और उलटे किकियारी करते हैं। इसलिए कोई सलाहकार यों न माने कि इस उपद्रवसे खेतीको बचानेका एक भी रास्ता आश्रमने न जाना, न विचारा है। जितना जाना है, उन सबमें हिंसा तो है ही। जो बिना हिंसाके इस उपद्रवसे खेतीको न बचाया जा सके तो यह विचार करना रहा कि कमसे कम कितनी हिंसासे बचाया जा सकता है। इसमें मैं अनुभवीकी मदद चाहता हूं।

हिन्दी नवजीवन
४ अक्टूबर, १९२८

❀

# अहिंसाकी समस्याएँ

बछड़े और बंदरोंके विषयमें लेख लिखकर मैंने टीकाकारोंका रोष खूब बटोर लिया है। कोई गालियाँ देकर अपनी अहिंसाकी परीक्षा करा रहा है, कोई सख्त टीका करके मेरी अहिंसाकी परीक्षा ले रहा है, कोई विवेकपूर्वक अपनी कठिनाइयाँ प्रकट कर रहा है। सभी पत्रलेखकोंको जवाब देने लायक समय मेरे पास नहीं है। ठेठ गालियोंवाले लेखोंसे मेरी सहन-शक्तिका माप निकालनेके सिवाय और कुछ लाभ होनेवाला नहीं है। दूसरे दो प्रकारके पत्रोंमेंसे कितनी एक दलीलें उतार कर उनपर विचार करना चाहता हूँ।

किन्तु उन दलीलोंमें उतरनेके पहले लिखनेवालोंसे विनती कर लूँ। अगर वे मर्यादाका पालन करेंगे तो मेरी जो भूल होगी, मुझे वह बतलावेंगे और अपनी जो भूलें होंगी उन्हें देखेंगे, खूब तटस्थ रहनेका प्रयत्न करते हुए रहनेपर भी।

१. अविवेकसे भरे हुए पत्रोंमेंसे मैं बहुत नहीं सीख सकता।

२. पेन्सिलसे लिखे हुए खराब अक्षरवाले लेखोंको पढ़ना अशक्य है।

३. लंबे निबंध मेरे पास भेजना व्यर्थ है।

संक्षिप्त, सुन्दर अक्षरमें स्याहीसे लिखे गये पत्रोंको पढ़नेके लिए मैं तैयार हूँ, उत्सुक हूँ। मैं एक नम्र शोधक हूँ। 'नवजीवन' चलाकर सिर्फ सिखलानेका ही काम नहीं करता हूँ, किन्तु सीखनेका भी प्रयास करता हूँ।

लेखकोंकी मुख्य दलीलें और शिक्षाएं ये हैं—

(१) अब आप अहिंसाके क्षेत्रमेंसे त्यागपत्र दे दीजिये।

(२) आप क्या अहिंसा-संबंधी अपने विचार पश्चिममेंसे नहीं लाये हैं?

(३) आपके विचार अगर सच्चे भी हों, तो भी जहां अनर्थ होनेका भय हो, वहां उन्हें आपको प्रकट नहीं करना चाहिये।

(४) आप कर्मवादको मानते हैं तो बछड़ेके प्राण लेकर कर्मके नियमका विरोध करना व्यर्थ है।

(५) आपको यह मान लेनेका क्या अधिकार था कि बछड़ा अब चंगा होगा ही नहीं, नहीं ही जियेगा? आप क्या नहीं जानते हैं कि जिनके बारेमें डाक्टर-वैद्योंने कहा है कि अब मिनटोंके मिहमान हैं, वे भी अनेकों बार जी गये हैं।

अहिंसाके, या किसी दूसरे क्षेत्रसे त्याग-पत्र देने या न देनेकी बात तो खुद मुझीको विचारनी रही है। आदमी अधिकारका त्यागपत्र दे सकता है, कर्त्तव्यसे जो त्यागपत्र देंगे वह कर्त्तव्य-भ्रष्ट हुए गिने जायंगे। सच्ची कहने और करने वालेके भाग्यमें बहुत बार लोकनिंदा तो होती ही है। मैंने सीखा है कि अपने आपको जो सच्चा जान पड़े, वह अगर प्रस्तुत हो तो उसे प्रकट करना सत्याग्रहीका धर्म है। जब तक मुझे ऐसा लगे कि अहिंसाके विषयमें मैंने जो कल्पना की है, वह सही है, तब तक मैं उसे जाहिर न करूँ तो कर्त्तव्यभ्रष्ट होऊँगा।

बछड़ेके बारेमें मेरे विचार अगर पश्चिमकी शिक्षाके आभारी हों तो मेरे लिए शर्मकी कोई बात नहीं है। पश्चिमसे ज्ञान लेना ही नहीं चाहिये या वहां जो कुछ होता है सो सब बुरा है, मेरी ऐसी मान्यता नहीं है। पश्चिमसे मैंने बहुत कुछ सीखा है। अहिंसाका बहुत कुछ स्वरूप वहाँसे मैंने सीखा हो तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये। मेरे विचार बाहरके किस स्पर्शसे आये हैं सो मैं नहीं जानता। हाँ, यह जानता हूँ कि अब तो वे मेरे अन्तरात्मामें बस गये हैं।

बात कुछ ऐसी नहीं है कि अपनी रायको सच्ची माननेसे ही मैं उसे प्रकट करता हूँ। किन्तु बछड़ेके बारेमें मेरे विचारोंके मूलमें अहिंसा रही है, इसलिए वे कल्याणकारी हैं, यह मानकर मैंने उन्हें प्रकट किया है। बंदरोंके बारेमें मैं अपना धर्म नहीं जानता। इस कारण ज्ञान प्राप्त करनेके लिए मैंने चर्चा की है। इस बारेमें मुझे सहायक पत्र मिले हैं। बंदरोंके बारेमें मैं इतना कह दूं कि जब मेरा कुछ भी नहीं चलेगा, तभी प्राण-हरण तक मैं जाऊंगा। मैं जानता हूँ कि मेरा धर्म उसमेंसे बच जाना है। उसमेंसे बचनेके लिए ही यह चर्चा है। कर्मको मैं अवश्य मानता हूँ। किन्तु पुरुषार्थको भी मानता हूँ। कर्मका सर्वथा क्षय करके मोक्ष प्राप्त करना परम पुरुषार्थ है। बीमारकी सेवामें भी कर्मकी गति रोकनेके मूढ़ प्रयत्नकी गंध आवेगी मगर तो भी हम मानते हैं कि जो रोगीकी सेवा नहीं करता, उसे दवा नहीं देता वह घोर हिंसा करता है। दैव और पुरुषार्थके द्वंद्वयुद्धमें शामिल न होते हुए जो कुछ सेवा कार्य हो सके, वह करलेनेका धर्म मैं जानता हूँ, और पालनेका प्रयत्न करता हूँ।

मुझे ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान तो नहीं था कि बछड़ा अब चंगा हो ही नहीं सकता। जिनसे डाक्टरोंने हाथ धो डाले थे, ऐसे रोगियोंको चंगा होते हुए मैंने देखा है। महा-अज्ञानमें पड़ा हुआ मनुष्य जहां तक भविष्यके बारेमें अनुमान कर सके, वहांतक करे और बर्ताव करे। असंख्य कर्मोंके संबंधमें हम ऐसा ही करते हैं। किन्तु कौन जाने, हिन्दू संसारको क्या बात हो गयी है कि वह मौतके नामसे ही भड़क उठता है। गोकि मौतका कमसे कम डर हिन्दूको ही होना चाहिये, क्योंकि हिन्दू धर्ममें बालकपनसे ही आत्माके अमरत्वका और शरीरकी क्षण भंगुरताकी शिक्षा

दी जाती है। बछड़ेको मारनेमें भूल हुई भी होगी, तो भी मैं जानता हूँ कि उसकी आत्माकी तो कुशल ही है। उसके कष्टमें डूबे हुए शरीरको दो घड़ी पहले नाश करनेमें शामिल होनेमें अगर भूल रही होगी तो उस भूलकी सजा भोगनेकी भी मुझे तैयारी रखनी चाहिये। किन्तु बछड़ेको जो दो घड़ी कम समय तक श्वास लेने को मिला, मुझे इसका पारावार दुःख नहीं लगता है। जो बात मैं बछड़ेके बारेमें कहता हूँ, वही प्रियजनके बारेमें भी कह सकता हूँ। कौन जानता है कि अपने लालन पालनसे, अपने मोहसे, अपने गलत इलाजसे हम अपने कितने सगोंके प्राण समयसे पहले जाने देनेमें मददगार हुए होंगे? प्राणहरणके बाद अश्रुपात करके हम दया-धर्मका पंथ छोड़ देते हैं और अहिंसाको लजाते हैं। मुझे जो पत्र मिले हैं, वे मेरी वह राय दृढ़ करते हैं। मरणका भय अहिंसाके पहचाननेमें महाविघ्नरूप है।

हिन्दी नवजीवन

११ अक्टूबर, १९२८

❀

"दूसरेके लिए प्राणार्पण करना भी प्रेम की पराकाष्ठा है और उसका शास्त्रीय नाम अहिंसा है। अर्थात् यों कह सकते हैं कि अहिंसा ही सेवा है। संसारमें हम देखते हैं कि जीवन और मृत्युका युद्ध होता रहता है परंतु दोनोंका परिणाम मृत्यु नहीं जीवन है।"

—गांधीजी

# एक समस्या

बछड़ा प्रकरण झट पूरा होनेवाला नहीं है। अहिंसाके नामपर हिंसा करनेवाले भाई अभी डाकखानेको पैसे दे रहे हैं। कितने मानते हैं कि मेरा साठवां वर्ष पैठा और इसलिए मेरी बुद्धिका नाश हुआ है। सासून अस्पतालमें मेरा रोग असाध्य मानकर मेरे डाक्टरोंने या मित्रोंने जहरकी पिचकारी मुझे दी होती तो गरीब बछड़ा जहरकी पिचकारीसे बच जाता और बंदरके ऊपर जो मैं मृत्युदंडकी तलवार लटकाये हुए हूं, उसका भय हनुमानके वंशजोंको न रहता। इनके अलावा दूसरे भी ऐसे ही अहिंसक उद्गारोंवाले पत्र आया करते हैं। और जैसे-जैसे ये पत्र आते हैं, मुझे लगा करता है कि इस विषयकी चर्चा जो 'नवजीवन'में की सो ठीक ही की। लेखक समझते नहीं कि अहिंसा-धर्मको जानने और माननेका दावा करते हुए भी वे ऐसे पत्र लिखकर हिंसा कर रहे हैं। किन्तु ऐसे पत्रोंमें दो चार अपवाद-रूप दूसरेके भी पत्र आये हैं। उनमेंसे एक यहां चुनकर देता हूँ। इस पत्रके लेखक कहते हैं—

"बछड़ा प्रकरणसे कितने संशय दूर हुए। अहिंसाकी मर्यादाके ऊपर आपने खूब ही प्रकाश डाला है, किन्तु उसके साथ ही आपने एक नयी उलझन भी पैदा कर दी है।

"वह यह है—कोई मनुष्य या मनुष्योंका समुदाय लोगोंके बड़े भागको कष्ट पहुंचा रहा है। दूसरी तरहसे उसका निवारण न होता होगा तब उसका नाश करें तो यह अनिवार्य समझकर अहिंसामें खपेगा या नहीं? बछड़ा-प्रकरणमें आपने भावनाको प्राधान्य दिया है। तो इस स्थलमें भी पापी पीड़ा देनेवालेका बध करनेमें भावना ऊँची होनेसे यह बध क्या अहिंसक नहीं गिना जायगा? फस्लका नाश करनेवाले जीवोंके नाशको आपने हिंसा नहीं गिना है। उसी भाँति मानव-समाजका नाश करनेवाले आदमीके नाशको क्या आप अहिंसा न मानेंगे?"

विवेकी पाठक तो यह देख ही गये होंगे कि इस पत्रमें मेरे लेखका अनर्थ हुआ है। अहिंसाकी जो व्याख्या मैंने दी है, उसमें ऊपरके तरीकेपर मनुष्य-बधका समावेश हो ही नहीं सकता। किसान जो अनिवार्य जीव-नाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसामें गिनाया ही नहीं है। यह बध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाय, किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है। किसानकी हिंसामें, या लेखकने जो दृष्टान्त दिया है, उसमें रही हुई हिंसामें समाजका स्वार्थ छिपा हुआ है। अहिंसामें स्वार्थको स्थान नहीं है। बछड़ेके प्राणहरणमें केवल बछड़ेके ही भलेका विचार था। न था उसमें खेतीकी रक्षाका या किसीकी रक्षाका सवाल; न था उसमें मेरी या किसी दूसरेकी सुविधाका प्रश्न। दुःखसे पीड़ित और जिसकी

दूसरी कोई सेवा अशक्य हो पड़ी थी, ऐसे बछड़ेके प्रति जो कर्तव्य था, उसीका सवाल था। प्रस्तुत लेखकके प्रश्नका मिलान बंदरोंके प्रश्नसे जरूर किया जा सकता है। तो भी दोनोंमें बहुत भेद है। बंदरका हृदय-परिवर्तन करनेका कोई सामाजिक उपाय हमारे पास नहीं है। इसलिए उसका प्राणहरण शायद क्षम्य गिना जाय, किन्तु पापीमें भी पापी, कष्ट देनेवाले मनुष्यका हृदय-परिवर्तन हमेशा शक्य है। ऐसे परिवर्तनके इलाजकी भी योजना समाजने की है। इसलिए अहिंसक प्रकरणमें स्वार्थी मनुष्य-बधको कभी स्थान नहीं मिल सकता। मुझे ऐसा नहीं सूझ सकता कि मनुष्य-बध अनिवार्य हो। यह याद रखनेकी जरूरत है कि बछड़ेकी स्थितिमें पड़े हुए मनुष्यके बारेमें मैंने जो कल्पना की है, उसका यहां कोई संबंध नहीं है।

अब रही भावनाकी बात। यह यथार्थ है कि मैंने भावनाको प्राधान्य दिया है। किन्तु अकेली भावनासे अहिंसा नहीं सिद्ध हो सकती। यह सच है कि अहिंसाकी परीक्षा अन्तमें भावनासे होती है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि कोरी भावनासे ही अहिंसा न मानी जायगी। भावनाका माप भी कार्यपरसे ही निकालना पड़ता है। और जहां स्वार्थके वश होकर हिंसा की गयी है, वहां भावना चाहे कितनी ही ऊंची क्यों न हो, तो भी स्वार्थमय हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। इससे उलटे जो आदमी मनमें वैर-भाव रखता है किन्तु लाचारीसे उसे काममें नहीं ला सकता, उसे वैरीके प्रति अहिंसक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसकी भावनामें वैर छिपा हुआ है। इसलिए अहिंसाका माप निकालनेमें भावना और कार्य दोनोंकी परीक्षा करनी होती है।

हिन्दी नवजीवन

१८ अक्टूबर, १९२८

❀

"जहाँ सिर्फ कायरता और हिंसाके बीच किसी एकके चुनावकी बात हो तहाँ मैं हिंसाके पक्षमें राय दूँगा।"

—गांधीजी

# अहिंसा बनाम दया

नीचे लिखा पत्र बहुत समय पहलेसे मेरे पास पड़ा था। सोचा था कि फुरसत मिलनेपर इसका उत्तर दूँगा। आज जहाजपर थोड़ी फुरसत मिली है। पत्र संक्षेपमें इस तरह है—

"जब आप दया और अनुकम्पाके भावसे प्रेरित होते और काम करते हैं तब दयाके बदले कई जगह अहिंसा शब्दका प्रयोग करते हैं। इससे गलतफहमीका पैदा होना संभव है, वह पैदा होती है। मुझे यह भी कह देना चाहिये कि मानी हुई दया झूठी भी हो सकती है।

"आपके अहिंसा-सम्बन्धी विचार कई बार अर्थ-शास्त्रके आधारपर ही होते हैं। ऐसी हालतमें अर्थशास्त्र और अहिंसा दोनों परस्पर असंगत और विरोधी तत्त्व मालूम पड़ते हैं। क्योंकि अहिंसा आत्मामेंसे पैदा होनेवाला एक भाव है, जो सक्रिय नहीं होता। लेकिन दया और अनुकम्पा व्यवहारजन्य भाव है। वे सक्रिय हैं; अहिंसा सक्रिय नहीं है। दयाका अहिंसाके बदले और अहिंसाका दयाके बदले उपयोग होनेपर अहिंसाके सच्चे अर्थका उल्लंघन होता है। इस कारण दया और अहिंसाके बीचका भेद जान लेने योग्य है।

"क्या किसी क्रूर और जंगली कही जानेवाली मनुष्यभक्षी जातिमें मनुष्यजातिके प्रति प्रेम पैदा करके, दया उपजाकर, दूसरे प्राणी और मनुष्यके बीचका विवेक समझाकर उसका मनुष्य-भक्षण छुड़ाना और पशुके मांससे अपना निर्वाह करनेकी बात कहना, अथवा मांस खानेवाले लोगोंको फल, फूल, वृक्ष आदि वनस्पतिसे जीवन-निर्वाह करनेकी बात कहना उन्हें अहिंसाका मार्ग बतलाना कहा जायगा? विचार करनेपर यह एकांग विवेक प्रतीत होगा। एकांग होते हुए भी यह सदोष है। अहिंसाकी दृष्टिमें जीवभाग समान है। इस कारण ऊपरका मार्ग अहिंसाका मार्ग नहीं है।

"क्या अहिंसा-धर्मका अथवा धर्म-मात्रका सब तरहके व्यवहारमें, हर एक कामके साथ स्पष्ट तौरपर आचरण करनेका आग्रह करना भूल नहीं है?"

पत्र-लेखककी भावना सुन्दर है, लेकिन मेरे विचारमें उनका अहिंसाका अनुभव-अभ्यास कम है। अहिंसा और दयामें उतना ही भेद है जितना सोनेमें और सोनेके गहनोंमें, बीजमें और वृक्षमें। जहां दया नहीं वहां अहिंसा नहीं। अतः यों कह सकते हैं कि उसमें जितनी दया है उतनी ही अहिंसा है। अपनेपर आक्रमण करनेवालेको मैं न मारूँ उसमें अहिंसा हो भी सकती है और

नहीं भी। डरकर उसे अगर न मारूँ तो वह अहिंसा नहीं हो सकती। दया-भावसे ज्ञानपूर्वक न मारनेमें ही अहिंसा है।

जो बात शुद्ध अर्थशास्त्रके विरुद्ध हो वह अहिंसा नहीं हो सकती। जिसमें परम अर्थ है वह शुद्ध है। अहिंसाका व्यापार घाटेका व्यापार नहीं होता। अहिंसाके दोनों पलड़ोंका जमा-खर्च शून्य होता है। याने उसके दोनों पलड़े समान होते हैं। जो जीनेके लिए खाता है, सेवा करनेके लिए जीता है, मात्र पेट पालनेके लिए कमाता है वह काम करते हुए भी अक्रिय है; वह हिंसा करते हुए भी अहिंसक है। क्रियाहीन अहिंसा आकाशके फूलके समान है। क्रिया हाथ-पैरसे ही होती है, सो नहीं। मन हाथ-पैरकी अपेक्षा बहुत ज्यादा काम करता है। विचार मात्र क्रिया है। विचार-रहित अहिंसा हो ही नहीं सकती। शरीरधारी मनुष्यके लिए ही अहिंसा-धर्मकी कल्पना की गयी है।

सर्वभक्षी जब दयासे प्रेरित होकर भक्ष्य पदार्थोंकी मर्यादा निश्चित करता है तब उस हद तक वह अहिंसा धर्मका पालन करता है। इसके विपरीत जो रूढ़िके कारण मांसादि नहीं खाता, वह अच्छा तो करता है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अहिंसाका भाव है ही। जहां अहिंसा है वहां ज्ञान-पूर्वक दया होनी ही चाहिये।

अगर अहिंसा-धर्म सच्चा धर्म हो तो हर तरह व्यवहारमें उसका आचरण करना भूल नहीं, बल्कि कर्त्तव्य है। व्यवहार और धर्मके बीच विरोध नहीं होना चाहिये। धर्मका विरोधी व्यवहार छोड़ देने योग्य है। सब समय, सब जगह, सम्पूर्ण अहिंसा संभव नहीं, यों कह कर अहिंसाको एक ओर रख देना हिंसा है, मोह है, और अज्ञान है। सच्चा पुरुषार्थ तो इसमें है कि हमारा आचरण सदा अहिंसाके अनुसार हो। इस तरह आचरण करनेवाला मनुष्य अन्तमें परम पद प्राप्त करेगा, क्योंकि वह सम्पूर्णतया अहिंसाका पालन करने योग्य बनेगा। और यों तो देहधारीके लिए सम्पूर्ण अहिंसा बीज-रूप ही रहेगी। देह-धारणके मूलमें हिंसा है, इसी कारण देहधारीके पालने योग्य धर्मका सूचक शब्द निषेध-वाचक अहिंसाके रूपमें प्रकट हुआ है।

हिन्दी नवजीवन

४ अप्रैल, १९२९

❀

"जहाँतक मानवीय दृष्टिसे सम्भव है तहाँतक पूर्ण आत्म-शुद्धि अहिंसाके अंदर निहित है।"

—गांधीजी

# क्या रामने खून बहाया था ?

जिन्हें खादी जहर-सी लगती है, उन्हीं भाईका एक और सवाल यों है—

"मेरे विचारमें कमजोर और निहत्थे होनेके कारण ही अहिंसात्मक असहयोग हमारे लिये श्रेष्ठ है। लेकिन जिन रामचन्द्रजीका राज्य रामराज्य कहलाता है, उन्हें भी रावणके साथ लड़कर खून बहाना पड़ा था। कृपाकर कोई ऐसा पुराना उदाहरण दें, जिसमें कभी किसीने खून बहाये बिना जय प्राप्तकी हो। बिल्ली एक छोटा-सा प्राणी है, मगर जब कुत्ता उसके बच्चेको उठाने जाता है, जान जोखिममें डालकर भी वह उसका विरोध करती है। बिल्ली यह खूब जानती है कि उसकी कुछ चलेगी नहीं, फिर भी वह मरनेको तैयार हो जाती है, और जबतक कुत्ता उसे मार नहीं डालता, बच्चेको ले जाना कठिन है। इसमें कुदरतकी कुछ खूबी है! मेरे विचारमें अहिंसात्मक असहयोगके कारण ही सरकार दिन-दिन अपना फौलदी पंजा अधिकाधिक मजबूत बनाती जाती है, अगर हम उसे चमत्कार बतावें तो वह अवश्य नमस्कार करे-फिर भले ही वह एक हजारका खून क्यों न करे, हम भी ३००–४०० से कम तो क्या करेंगे। ३३ करोड़ भारतीयोंका अहिंसामें विश्वास रखना आसमानमें फूल खिलनेके समान है। अतएव प्रार्थना है कि देशकी नब्जको ठीक-ठीक परखिये। मेरे विचारमें आप निदान करनेमें भूले हैं।"

मेरा दृढ़ विश्वास है कि अहिंसात्मक असहयोग निर्बलका ही बल नहीं, बल्कि बलवानोंका भी खास बल है। वह सर्वव्यापी सिद्धान्त है। जानमें हो अनजानमें हम रात-दिन इसपर अमल करते हैं। वर्तमान इतिहासमें राजाओंकी लड़ाईको अधिक महत्व दिया जाता है। लोगोंका, प्रजाका इतिहास भविष्यमें लिखा जायगा। जब वह इतिहास लिखा जायगा, तब हम देखेंगे कि उसके पन्ने-पन्नेमें अहिंसात्मक असहयोग भरा पड़ा है। जब स्त्री दुष्ट पतिके वश नहीं होती, तब वह उससे अहिंसात्मक असहयोग करती है। 'क्वेकर' लोगोंका इतिहास अहिंसात्मक असहयोगका जगमगाता उदाहरण है। भारतमें वैष्णवोंका इतिहास भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करता है—ये लोग जो काम कर सके हैं, सारी दुनिया उसे कर सकती है।

देखनेवाले साफ-साफ देख सकते हैं कि जगतकी गति शान्तिकी ओर है। मानव-जातिका शरीर तो मनुष्यका है, मगर अभी उसने पशु-स्वभावका त्याग नहीं किया है। उसे यह त्याग करना ही पड़ेगा। इसी कारण कुत्ते बिल्लीकी मिसाल बेठिकाने है और हमारे लिये अशोभनीय है। हम कुत्ते बिल्ली नहीं हैं; हम दो पैरपर सीधे खड़े होनेवाले, आत्माको पहचाननेकी इच्छा रखनेवाले और बुद्धि-शक्तिवाले प्राणी हैं।

और रामचन्द्र? कौन सिद्ध कर सका है कि रामचन्द्रने लंकामें खूनकी नदी बहायी थी? दस सिरवाला रावण कब जन्मा था? बन्दरोंकी फौज किसने देखी थी? रामायण धर्म-ग्रन्थ है, रूपक है। करोड़ों लोग जिस रामकी पूजा करते हैं, वह राम घट-घट व्यापी है। रावण भी हमारे ही शरीरमें रहनेवाले दस सिर वाले विकराल विकारोंका रूप है। उसके खिलाफ अन्तर्यामी राम सदा युद्ध करता है। वह तो दयाकी मूर्ति है। अगर किसी ऐतिहासिक रामने किसी ऐतिहासिक रावणसे युद्ध किया भी हो तो उससे हमें बहुत-कुछ सीखनेको नहीं मिलता। इन प्राचीन राम-रावणको खोजनेकी जरूरत? आज तो वे दूर-दूर पड़े हैं। सनातन राम ब्रह्मस्वरूप है, सत्य और अहिंसाकी मूर्ति है।

भारतकी समस्या न तो क्रोधसे सुलझेगी, न रामायणादि ग्रन्थोंके अर्थका अनर्थ करनेसे और न पशुओंकी नकलसे। इस समस्याको हल करनेके लिए हमें अपने आपको पहचानना पड़ेगा। अहिंसात्मक असहयोग भारतको उसके मनुष्यत्वकी याद दिलानेवाली चीज है। भले ही करोड़ों लोग एक साथ इस बातमें श्रद्धा न रखें। हथियार उठानेके लिए भी कौन करोड़ों तैयार बैठे हैं? करोड़ों तैयार हो भी नहीं सकते। अहिंसात्मक युद्धमें अगर थोड़े भी मर मिटनेवाले लड़ाके होंगे, तो वे करोड़ोंकी लाज रखेंगे और उनमें प्राण फूकेंगे। अगर यह मेरा स्वप्न है, तो भी मेरे लिए मधुर है। आकाशकुसुम है तो भी मेरी कल्पनाकी आँखोंमें उनकी शोभा है, और उसमेंसे सौरभ फैलता ही रहता है।

हिन्दी नवजीवन

१५ अगस्त, १९४८

"अहिंसामें हार जैसी कोई चीज ही नहीं है। हिंसाके अंतमें तो निश्चित हार ही है।"

—गांधीजी